

पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 28 मई-जून 2010

संपादक
भारत भारद्वाज



Kku 'kkrfir eShh

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

युक्तक-वार्ता

अनुक्रम

संपादकीय	: संपादक की विदाई	5
पुस्तकें और मैं	: पुस्तकों से रिश्ते का अर्थ / शंभुनाथ	7
उपन्यास	: विसर्जन / राजू शर्मा विसर्जन—रोचक, पठनीय उपन्यास / प्रमोद	12
	: पंखवाली नाव / पंकज बिष्ट मैं ऐसा प्रेम हूँ, नहीं है साहस जिसमें अपना नाम लेने का / रोहिणी अग्रवाल	14
	: सुरंग / एर्नेस्तो साबातो आत्मकथात्मक—लेखन का नया आयाम / प्रेमशीला शुक्ल	17
कहानी	: उपसंहार / प्रेमकुमार मणि कहानियाँ, जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति हैं / शशिकला त्रिपाठी	20
	: गुलमंहदी की झाड़ियाँ / तरुण भटनागर उम्मीदें जगाती कहानियाँ / जाहिद खान	23
	: कित्ता पानी / अनिता गोपेश छटपटाहट, संघर्ष और बाईपास की कहानियाँ / रश्मि मालवीय	26
कविता	: जाग उठे ख़ाब कई / साहिर लुधियानवी साहिर : तिलिस्म रचने वाला शायर / ज्ञानप्रकाश विवेक	28
	: यह भूमण्डल की रात है / पंकज राग इतिहास और वर्तमान से आँख मिलाती कविता / प्रियदर्शन	30
	: पहली बार / सन्तोष कुमार चतुर्वेदी समय जो तय है आज / श्रीप्रकाश मिश्र	32
आलोचना	: निराला : कृति से साक्षात्कार / नन्दकिशोर नवल निराला के काव्यलोक की अंतरंग यात्रा / शिवकुमार मिश्र	35
संस्मरण	: अमृतलाल नगर की बाबूजी—बेटाजी एंड कंपनी / अचला नगर अमृतलाल नागर बेटे की स्मृतियों में / राजकुमार सैनी	38
रंगमंच	: रंगमंच का सौन्दर्यशास्त्रा / देवेन्द्र राज अंकुर रंगमंच का सौन्दर्य : बाहर—भीतर / रणजीत साहा	40

धरोहर	: प्रेमचन्द का पहला उपन्यास : दुर्गादास / भवदेव पाण्डेय	42
पुरखों के कोठार से	: बंगमहिला की पुस्तक 'कुसुम संग्रह' और स्त्री शिक्षा / भारत यायावर	44
आगमन	: अँग्रेजी से हिंदी अनुवाद : 'लगभग सिंगल' / अनंत विजय	47
समय जुलाहा	: याद के रहगुज़र / कुबेर दत्त	49
साहित्य कोलाहल		52
प्रतिध्वनि	: पत्रा-प्रतिक्रिया	54

संपादक की विदाई

आ

ज हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं में जिस तरह लम्बे-लम्बे संपादकीय लिखने का चलन है, उससे अलग हटकर विनम्रतापूर्वक मैं भारतीय पत्रकारिता कोश (खंड-एक) ले. विजयदत्त श्रीधर) से, 'सरस्वती' पत्रिका से संबंधित संपादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का अंतिम संपादकीय 'संपादक की विदाई' दे रहा हूँ :

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 31 दिसम्बर 1920 को दौलतपुर, रायबरेली से अपना अंतिम संपादकीय- 'संपादक की विदाई' लिखकर भेजा जो जनवरी 1921 की 'सरस्वती' में छपा। उसके कुछ अंश यहाँ उद्धृत हैं- "पुस्तक रचना के सम्बन्ध से तो इण्डियन प्रेस से मेरा सम्पर्क बहुत पहले ही हो चुका था- बाबू चिन्तामणि घोष और उनके उत्तराधिकारियों ने मेरे साथ बड़ी उदारता का व्यवहार किया, मेरे लिए अनेक सुखकर सुभीते कर दिए, किसी और काम के योग्य न रह जाने पर घर बैठे, मेरे लिए 'सरस्वती' का सम्पादन कार्य करने की अनुकूल योजना कर दी। उनके अनुग्रह का यह हाल है कि 'सरस्वती' का काम छोड़ देने पर भी वे मेरे सुख-साधन की चिन्ता से अपने चित्त को रिक्त रखना नहीं चाहते। उनके विषय में मेरे हृदय के कृतज्ञता सूचक भाव- "हृद्येव जीर्णतां यान्तु।"

"सरस्वती" को निकलते पूरे 21 वर्ष हो चुके। जिस समय उसका आविर्भाव हुआ था उस समय हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य की कया दशा थी यह बात लोगों से छिपी नहीं है, जिन्होंने उस समय को भी देखा है और जो इस समय को भी देख रहे हैं।

"सरस्वती" के आकार-प्रकार, उसके ढंग और लेखन शैली आदि को लोगों ने बहुत पसन्द किया- अच्छी मासिक पुस्तक के संपादक में जो गुण होने चाहिए उनका शतांश भी मुझ में नहीं। अपनी अल्पज्ञता और असामर्थ्य का यथेष्ट ज्ञान होने पर भी मैंने 'सरस्वती' के सम्पादन का भार केवल यह समझकर अपने ऊपर लिया कि- "नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः"

"मैं सेवा का अर्थ अच्छी तरह जानता हूँ। अतएव मैं कह सकता हूँ कि मैंने सेवाभाव से प्रेरित होकर 'सरस्वती' का सम्पादन नहीं किया। हिन्दी की सेवा मैंने तो नहीं, पर इण्डियन प्रेस के अध्यक्ष ने अवश्य की है। जन्मभूमि उनकी बंगदेश है और मातृभाषा उनकी बंगला। 'सरस्वती' से उन्हें प्रत्यक्ष कुछ भी लाभ नहीं हुआ, परोक्ष लाभ चाहे जो कुछ हुआ हो। यदि उनमें उदारता की मात्रा इतनी अधिक न होती तो 'सरस्वती' का विसर्जन कभी का हो गया होता। आज से लेख, समालोचनार्थ पुस्तकें, बदले के पत्र और 'सरस्वती' के सम्पादन से सम्बन्ध रखने वाली चिट्ठियाँ आदि 'सरस्वती' सम्पादक, इण्डियन प्रेस लिमिटेड कटरा, इलाहाबाद के पते से ही भेजी जानी चाहिए. अच्छा तो अब मैं विदा होता हूँ-

"अतः परं व्याधिशतक्षतस्य मे
मनो मनोहारिणि जान्हवीतटे"

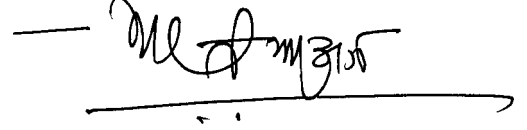
दौलतपुर, रायबरेली
31 दिसम्बर 1920

महावीर प्रसाद द्विवेदी"

पुस्तकवार्ता के आगामी अंक से हम एक नया स्तंभ 'पुस्तकालय : सार्वजनिक और निजी' आरंभ कर रहे हैं जिसमें भारत के 10 शहरों के महत्वपूर्ण पुस्तकालयों और 10 महत्वपूर्ण हिंदी लेखकों के निजी पुस्तकालयों पर हम लंबा रिपोर्टाज छापेंगे।

हमें इस बात का दुख है कि अब श्री रामजी यादव हमारे साथ नहीं हैं।

इस बीच हमसे बिछुड़े लेखक और 'नई कहानियाँ' के अंतिम संपादक डॉ. प्रमोद सिन्हा, पंजाबी के प्रसिद्ध कथाकार रामसरूप अणखी, 'कल्पना' के संपादक मंडल के सदस्य मुनीन्द्र (हैदराबाद) प्रसिद्ध रंगकर्मी और 'उमंग' की संयोजिका रेखा जैन के प्रति हम हार्दिक श्रद्धांजलि प्रकट करते हैं।



कृपया ध्यान दें :

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का क्षेत्रीय विस्तार केन्द्र (दूरस्थ शिक्षा), दिल्ली अब ओखला से स्थानान्तरित होकर मालवीय नगर आ गया है।

भविष्य में पत्रिका के ग्राहक / समीक्षक / लेखक / प्रकाशक और वितरक निम्नलिखित पते पर संपर्क करें।

□ संपादक

क्षेत्रीय विस्तार केन्द्र, (दूरस्थ शिक्षा)

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

ब्लॉक—सी / 60, प्रथम तल, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली—110017

टेलीफोन : 011—26677365

पुस्तकें और मैं

मैं और पुस्तकें

शंभुनाथ

ब

चपन में अखबार वाले की साइकिल की घण्टी याद है। साइकिल से झूलते मैले थैले में किस्से कहानियों की ढेरों किताबें होती थीं। वह सुबह अखबार बाँटता। शाम को पढ़ने वालों के घर घूम-घूमकर किताबें देता। वह कोई भी किताब एक आने में एक दिन के लिए देता था। पाठ्य-पुस्तकों के बाहर मेरे पढ़ने की शुरुआत किसी क्रान्तिकारी किताब से नहीं हुई। उस समय बच्चों की पत्रिकाओं, बैताल पचीसी, सिंहासन बत्तीसी जैसी किताबों से लेकर उड़न खटोला, जादुई तलवार जैसी चीजों से नाता था। अपने आस-पास के यथार्थों की धीमी दुनिया के बाहर ऐसी पुस्तकों के विस्मयलोक में होना मजा से भरा था। ऐसी पुस्तकों में फैंटेसी का एक अलग संसार था।

मजे की बात है, बच्चों की दुनिया में क्रूरता, हिंसा और दुस्साहस से जुड़ी कहानियाँ आज भी पसन्द की जाती हैं। थोड़ा रूप बदला है, आज हैरी पॉटर है। मैं महसूस कर रहा हूँ, बड़ा रोमांचक होता था किस्से-कहानियों की ऐसी किताबों में किसी 'बुराई' या दुष्ट राक्षस से साहसी आदमी या परी का मुठभेड़ करना। मेरे ऊपर ऐसे किस्सों का नाटकीय असर पड़ा था। हावड़ा के मेरे मुहल्ले में मेरे घर के प्रायः बगल में ही देशी शराब की भट्टियाँ थीं। कई नाजायज काम होते थे। बस्ती की खोलाबाड़ियों में मेहनत मशक्कत करने वाले और छोटे दुकानदार थे। कोई डर के मारे कुछ नहीं बोलता था। मुझे घर से थोड़ी छूट थी। मैं 1958-60 के दिनों में मुहल्ले के बच्चों के साथ गली में बहुत उछाह से खेला-कूदा करता था। हम बच्चे अपने-अपने घरों में बांस की फराठी से तलवार बनाते। ऐसा भी दो-तीन बार हुआ, मैं मुहर्रम का इन्तजार करता और 10-12 साल की उम्र में अकेला कर्बला चला जाता। कई गोल में मुहर्रम की लाटियाँ बज रही होतीं। मैं बैलून, चर्खी आदि बेचने वाले से लकड़ी की बनी चाँदी के रंग की तलवार खरीदकर लाता, वह बहुत नाजुक होती। हम लोग खेलते हुए दो दलों में बँट जाते। एक मस्तानों-दादा लोगों का दल होता, दूसरे दल में पब्लिक होती। उस दौर में किस्से खेलों में उतरकर जीवन में साहस भरते थे। कुछ सालों बाद शराब की भट्टियाँ और नाजायज काम मुहल्ले के पार चले गए, क्योंकि आवाजें उठी थीं।

क्या पढ़ना जीवन से तटस्थ महज मनोरंजन करना और हुनर हासिल करना है या किताबों का जीवन पर एक व्यापक असर पड़ता है? हम लोग जब पढ़ते थे, किताबों के शब्द बहुत मतलब रखते थे। वे ईश्वर के अवतारों से अधिक तात्पर्यपूर्ण थे। मैं घर का पहला व्यक्ति था, जिसने स्कूल पार किया। मेरे सामने स्कूल जीवन के अन्तिम वर्ष में पुस्तकों के भिन्न शीर्षक थे। श्री हनुमान पुस्तकालय 1919 में स्थापित हुआ था। कोई पाठक जी लाइब्रेरियन थे बड़े शान्त, हँसमुख और पाठक की रुचि देखकर चपरासी से दोनों हाथ भर-भरकर किताबें मँगाने वाले। मुझे हरिवंश राय बच्चन, नीरज, चतुरसेन शास्त्री आदि की किताबें मिलीं। मैं इनसे प्रभावित नहीं हुआ। मैं नहीं सोच पा रहा था कि मुझे क्या पढ़ना चाहिए। अपनी उम्र के कुछ साहित्यिक बालकों की संगत और दो-चार प्रौढ़ स्थानीय लेखकों के उपदेशों से साहित्यिक दुनिया के कल-पुर्जों को समझने की कोशिश में था। मुझसे पुस्तक के शब्दों में रस, कल्पना और भाषा-जाल से कुछ अधिक चाहिए था। मेरा परिचय तभी प्रेमचन्द से हुआ, उनके 'गुप्तधन' के दोनों भाग हाथ लगे।

इतनी सादी भाषा में जीवन की इतनी गहरी कहानियाँ एक साथ पहले नहीं पढ़ी थीं। जब यह जाना प्रेमचन्द खुद बड़े सीधे और मामूली-से दिखने वाले इन्सान थे, इन कहानियों का एक अलग ही महत्त्व समझ में आया। उस समय हम लोग एक भिन्न साहित्यिक जमाने में थे। 1966-67 का समय चारों तरफ बढ़ रहे गुस्से का गवाह था। मैं हर साहित्यिक पत्रिका में देखता था, विरोध और आक्रोश से भरी रचनाएँ होती थीं। मुझे जीवन और संघर्ष के आदर्श प्रेमचन्द से मिले थे, पर साहित्यिक तेवर 60 के बाद की पीढ़ियों का था।

भारतीय परम्परा में पुस्तकें कभी ग्रन्थ कही जाती थीं। अनुभवों, विचारों, घटनाओं और कल्पनाओं को जोड़कर बनने वाली गाँठें। सिखों की धर्मपुस्तक है ग्रन्थसाहब। यह जीवन में पुस्तक के महत्त्व का एक जीता-जागता दृश्य है। प्रेस से पहले धाखमक पुस्तकें छपकर

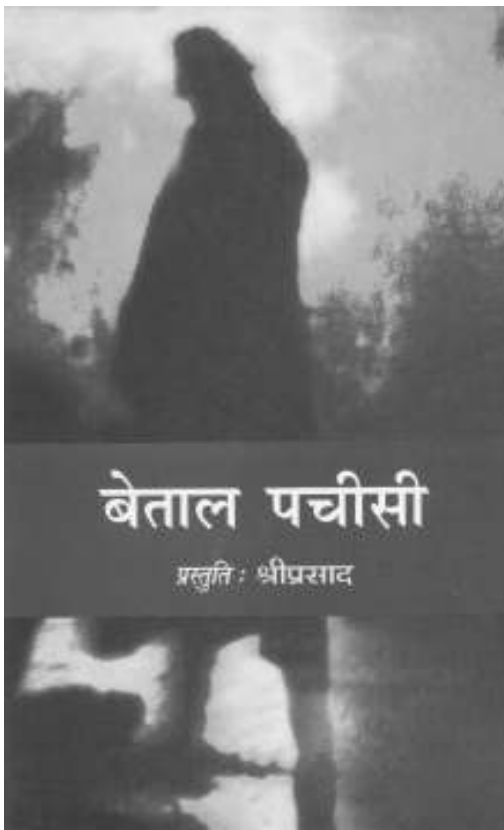


शंभुनाथ

निकली हों, पर छपी पुस्तकों ने सबको बड़ा काम किया—ज्ञान पर धाखमक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग का एकाधिकार समाप्त कर दिया, जनता को आपस में एक नई भावभूमि पर जोड़ दिया। हर पुस्तक एक विशिष्ट ग्रन्थ है।

हम जानते हैं, चालीस—पचास साल पहले तक पुस्तक लिखना एक बड़ा मामला होता था। इसके छपे हुए पन्ने हमें अनंत यात्रा में ले जाते थे। पुस्तकें हमें एक ऐसी यात्रा में ले जाती हैं, जो हमें स्वाधीन करती हैं, हमें अधिक मनुष्य बनाती हैं। पुस्तकों के हथियार का इस्तेमाल धर्म प्रचारक करें, राजनेता करें या व्यापारिक कंपनियाँ करें, वे पुस्तकें तभी हैं जब किसी अतृप्ति, सन्देह और असहमति से जन्मी हों। मैं सोचता हूँ मैं जब अपने शिक्षा—काल में प्रेमचन्द को पढ़ रहा था या उनके साथ—साथ कबीर, गाँधी, कार्ल मार्क्स, लोहिया, दिनकर, अज्ञेय वगैरह को पढ़ रहा था, क्या मैं उनकी पुस्तकें सिर्फ पढ़ जाता था या उन पुस्तकों से कुछ बनता भी था।

मेरा पुस्तकों से रिश्ता विद्वान बनने के लिए नहीं था। मेरे मन में कभी यह विचार नहीं आया कि मैं विद्वान बनूँ या दिखूँ, हालांकि मेरा पाला ऐसे कई व्यक्तियों से पड़ा जो विद्वान हैं। मैं शुरू में पुस्तकें धीरे—धीरे पढ़ता था। मेरे मन में पढ़ते समय जो कुछ घटित होता था, वह भी बहुत धीरे—धीरे। मैं पढ़ते समय पुस्तक से प्रभावित होता था, पर पूरी तरह सहमत शायद ही कभी हो पाता था। मुझे प्रेमचन्द के बाद सबसे अच्छे कबीर लगे। कबीर खुद आस्तिक थे, पर उन्हें ही पढ़कर मैं कॉलेज जीवन की शुरुआत से ही नास्तिक बना। मैंने कबीर ग्रन्थावली से कबीर को थोड़ा—बहुत समझने का प्रयत्न किया। 'पाथर पूजे हरि मिले तो मैं पुजूं पहाड़', मुझे याद है इस पंक्ति ने ईश्वर में मेरी आस्था मिटा दी। इसका यह अर्थ नहीं है कि रोज गंगा जाकर स्नान करने वाली मेरी एक दादी जब तौंबे के छोटे कलश से मुझे तुलसी पत्ते के साथ चरणामृत देती थीं, मैं अस्वीकार कर देता था। मैं विनम्रता से ले लेता था, सिर से लगाता था और मुँह के पास लाकर जैसे ही दादी को मुड़कर जाते देखता, पीछे फेंक देता था। मुझे लगता कि घर पर नल से हर—हर गिरता म्युनिसिपैलिटी का पानी छोड़कर इस बुढ़ापे में भी जो रोज गंगा स्नान करने जाता है, एक नास्तिक को उसकी आस्था का अपमान करने का कोई हक नहीं है। क्या मेरे ऐसा होने में पुस्तकों का कोई हाथ था—कबीर के गुरु का?



1973 का वर्ष मानस चतुश्शती वर्ष था। इस वर्ष चारों तरफ तुलसीदास का तूफान था। मैंने 'रामचरितमानस' पढ़ा। मैंने इतने हल्के ढंग से इससे पहले कोई पुस्तक नहीं पढ़ी थी। मेरे घर में इसका एक काफी पुराना संस्करण पूजा—पाठ के लिए था। यह खोला नहीं जाता था। मुझे यह पवित्रा ग्रन्थ छूने से एक बार मनाकर दिया गया था, क्योंकि बच्चों के हाथ गन्दे होते हैं। मैंने चतुश्शती के समय रामचरितमानस पर एक बहुत प्रहारात्मक लेख लिखा। चारों तरफ मानस चतुश्शती समारोह मनाया जा रहा था। मैंने विरोध में जाकर हावड़ा के टाउन हॉल में जवाबी तौर पर कबीर मेला का आयोजन किया। इसमें वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय से एक बौद्ध विद्वान जगन्नाथ उपाध्याय को आमन्त्रित किया। वे जमकर बोले। इसके अलावा कबीर के दोहों और पदों पर एक स्थानीय चित्रकार उमाशंकर के 50 चित्रा थे। मैंने ऐसा क्यों किया, क्या कबीर को पढ़ना काफी न था? मुझे नहीं पता, पुस्तकें इतना बेचैन क्यों करती हैं। पुस्तकें समय काटने के लिए नहीं होतीं। ये समय को जानने, समय को जीने और समय को बदलने के लिए होती हैं। जिसके घर में पढ़ने के लिए नहीं, सिर्फ भक्ति—भाव से 'कल्याण' की फाइलें हों, वहाँ यदि कबीर का प्रेमी पैदा हुआ, यह पुस्तक का ही कमाल था।

मुझमें प्रेमचन्द के साथ कबीर बसते गए—एक नास्तिक और दूसरा आस्तिक। यह धीरे—धीरे जान पाया कि कबीर की रचनाओं में न कहीं रहस्य शब्द है और न ही अध्यात्म। फिर भी अद्भुत विडम्बना है कि उन पर कभी 'रहस्यवाद', कभी 'अध्यात्मवाद' के आधुनिक ठप्पे लगाए जाते रहे। वे धर्मों की टकराहट और पाखण्ड के वस्तुतः एक धाखमक हृदय सम्पन्न आलोचक थे, वे 'इनसाइड क्रिटिक' थे। कबीर की साहित्यिक प्रतिष्ठा उजागर करने के बावजूद उन्हें आज तक ढकने की कोशिशें

ही ज्यादा हुई, जबकि कबीर का संघर्ष सारी नकली पहचानों त्यागकर मनुष्य होने के लिए था। हम जानते हैं, एक बार फिर मनुष्य होना कितना कठिन हो गया है।

हर अच्छी किताब का हमारे बौद्धिक और भावनात्मक विकास पर असर पड़ता है। पढ़ने का अर्थ है अपने भीतर और बाहर की जड़ता से लड़ना। हमें पुस्तक निरन्तर अधिक कल्पनाशील और आलोचनाशील बनाती है। निश्चय ही पुस्तक पढ़ना उसके शब्दों के प्रवाह में बह जाना नहीं है। यह भी जरूरी है कि हम पढ़ते समय पुस्तक का चयन सावधानीपूर्वक करें। हमें कुछ पुस्तकें जबर्दस्ती पढ़नी पड़ती हैं। उनका प्रायोजित हल्ला होता है, समीक्षा लिखनी होती है या मित्रा ने दी होती है। एक मुश्किल यह है कि जो लेखक खुद दूसरे लेखकों की अच्छी पुस्तकें नहीं पढ़ते, वे चाहते हैं कि उनकी पुस्तक चाहे जैसी भी हो सभी पढ़ें। इस समय हमारे हिंदी लेखक यूरोपीय और लैटिन अमेरिकी साहित्य बड़े पैमाने पर गुपचुप पढ़ते हैं। शायद कई इसके बिना लिख भी न पाते हों। यह सर्वविदित है कि यूरोप, लैटिन अमेरिका या अमेरिका में समकालीन हिंदी रचनाकार जरा भी नहीं पढ़े जाते, सम्भवतः इसलिए कि जितना भर उनका अँग्रेजी अनुवाद उपलब्ध है, उसमें उनकी भारतीय विशिष्टता दिखाई नहीं देती।

मुझे वे पुस्तकें पसन्द हैं, जिनमें पश्चिम के प्रभावों या मार्क्सवादी प्रेरणाओं के बीच भारतीय विशिष्टताओं की झलक हो। मुझे अज्ञेय का उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' और नागार्जुन का काव्य संग्रह 'सतरंगे पंखों वाली' बड़ा प्रिय था। मुझे अज्ञेय की कविताएँ बहुत निजी और बोझिल लगती थीं, दिमाग का जिमनास्टिक हो जाता था। शेखर की निजता में एक खुलापन है। वह पश्चिम और अतीत दोनों से टकराता है, उसमें एक मानवीय भारतीय पहचान की बेचैनी मिलती है। जब सब अज्ञेय की कविताओं में खुलकर नहीं है।

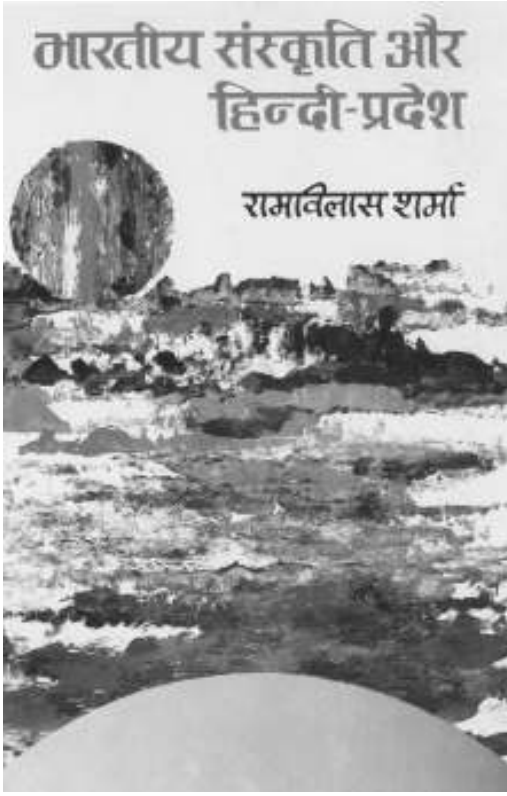
अँग्रेजी की राह से साहित्य में प्रवेश करने वाले अज्ञेय और संस्कृत-प्राकृत की राह से आने वाले नागार्जुन में इसके अलावा क्या समानता है कि दोनों की दाढ़ी थी। एक कटी-छंटी और दूसरे की बेतरतीब। नागार्जुन हिंदी के पहले और अन्तिम आधुनिक लेखक हैं, जिन्हें अँग्रेजी नहीं आती थी। यही वजह है कि उनकी रचनाओं में भारतीय मिट्टी की आग और खुशबू सब से ज्यादा है। उनसे 1981 में सम्पर्क में आया। और उनकी मृत्यु के कुछ महीने पूर्व तक उनके साथ काफी समय बीता। उनके खुलापन, निर्भीकता और प्रतिबद्धता ने मुझे सोचने-समझने की एक जमीन दी। मुझसे कोई पूछे एक लेखक को कैसा होना चाहिए—अज्ञेय जैसा या नागार्जुन—जैसा, मैं कहूँगा, थोड़ा बहुत नागार्जुन जैसा। वे साधारण में भी बहुत कुछ ऐसा देते थे, जो असाधारण होता था। उनके शब्द और कर्म में दूरी न थी।

मैं कैसे न कहूँ कि मैंने मुक्तिबोध का 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' से जाना कि लिखना कितना कठिन मामला है। आज कहा जा सकता है कि लिखना एक आनन्ददायक कर्म है, पर मुक्तिबोध के लिए यह यातना का आनन्द था। आज कुछ भी बोलना या लिखना बड़ा आसान है, यह फास्ट फूड जैसा मामला है। मुक्तिबोध एक ऐसी जगह है, जहाँ एक-एक शब्द जीवन की बची आखिरी साँसों के समान बहुमूल्य है। मुझे 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की जब भी याद आती है, मुझे श्रीकान्त वर्मा भी याद आते हैं। उन्होंने यह संग्रह तैयार किया था और लिखा था, 'मुक्तिबोध से इस हद तक प्रेम किया है कि वे मुक्तिबोध को भूल नहीं सकते।' मुझे यह प्रश्न तंग करता है कि श्रीकान्त वर्मा जब आपातकाल के दिनों में एक राजनीतिक पार्टी के नारे लिख रहे थे, 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की कविताएँ उनकी स्मृति से क्यों खो गई थीं। पुस्तकें दिमाग में जगह बनाते-बनाते अचानक किस रास्ते से निरर्थक वस्तु बन जाती हैं, आखिर पढ़े-लिखे लोगों से पुस्तकें क्यों हार जाती हैं?

एक अच्छे लेखक की पुस्तक पढ़ना कुछ बिन्दुओं पर टकराहट हो भी तो यह मुख्यतः किसी-न-किसी सन्देह, कुछ-न-कुछ बचाने, पराजय और साहस के बीच पुल बनाने और एक-न-एक ऊँचे मानव-स्वप्न में साझा करना है। पुस्तकें अँधेरी जगहों को रोशनी में लाती हैं। वे हमारी मनोग्रन्थियों और विफलताओं को खोलती हैं। लग सकता है कि अब इंटरनेट पर पुस्तकें उपलब्ध हैं। यदि आँखों पर दबाव पड़ता है, पुस्तकें सुनी भी जा सकती हैं। पुस्तकालय बुजुर्ग पुस्तक प्रेमियों की जगह बनते जा रहे हैं। फिर भी विकसित देशों के पुस्तकालयों में आज भी चहल-पहल है। हम सभी का अनुभव है, कागज के पन्नों में पुस्तकें जितनी आत्मीयता और स्वतन्त्रता से पढ़ी जा सकती हैं, इंटरनेट पर नहीं।

वैश्वीकरण के जमाने में भारतीय भाषाओं की पुस्तकों का पढ़ा जाना उस अनुपात में नहीं बढ़ पाया है, जितना अँग्रेजी पुस्तकों का आकर्षण बढ़ा है। खुद हिंदी लेखक अपनी भाषा की किताब खरीदने में अपना अपमान समझते हैं। पहले के महत्त्वपूर्ण हिंदी कवियों-गद्यकारों की पुस्तकों की तरह आज न किसी पुस्तक के कई संस्करण होते हैं, न पाँच-सौ हजार से अधिक प्रतियाँ छपती हैं और न यह जरूरी है कि किसी लेखक की ताजा कृति पिछली पुस्तक से श्रेष्ठ हो। आज प्रबन्धात्मकता की जगह फुटकरपन और दायित्वशीलता की जगह सनसनी का ज्यादा बोलबाला है। आज श्रव्य-दृश्य माध्यम के विस्तार के बावजूद पुस्तकों के रंग-बिरंगे पहाड़





हैं। लगता है, पुस्तकें बनाना इतना आसान कभी न था।

मुझे रामविलास शर्मा की पुस्तकें प्रेमचन्द के बाद हिंदी की सबसे बड़ी उपलब्धियों की तरह दिखती हैं। उनकी पुस्तकें बिना रुकावट के पढ़ी जा सकती हैं। उनमें पर्याप्त तथ्य होते हैं। उनकी तर्क पद्धति, पुस्तकों में प्रबन्धात्मकता और आरम्भ से आखिर तक वैचारिक संगति उनकी कृतियों को विशिष्ट बनाती है। उनकी जिस पुस्तक ने सबसे अधिक प्रभावित किया, वह है 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश'। वह हिंदी जाति की अवधारणा को एक बड़े परिप्रेक्ष्य में उपस्थित करने वाले पहले आलोचक हैं। निश्चय ही परम्परा का उनका आलोचनात्मक मूल्यांकन परम्परावाद और पश्चिमवाद दोनों से बचने के सन्दर्भ में बेहद महत्वपूर्ण है। उनके साहित्य में मार्क्सवाद का एक भारतीय मोड़ है। मैं रामविलास शर्मा के सम्पर्क में कभी न था। उनसे कुल एक बार की छोटी-सी मुलाकात है, पर उनके काम की विविधता और गहराई से मैं हमेशा प्रभावित था। उनके समकालीनता के मूल्यांकन में मुझे कठोरता दिखी है, परम्परा का मूल्यांकन हमारे समय के साम्राज्यवाद और सामंतवाद दोनों को एक बड़ी चुनौती है।

हमारे देश में आज भी विषमता और दमन को तर्कसंगत ठहराने वाली स्थानीय और ग्लोबल विचारधाराएँ हैं। हम अब बदलाव की जगह विकास को अपना लक्ष्य बना चुके हैं। यह विकास विडम्बनाओं और खाइयों से भरा है। कहीं भी नजर ले जाइए, विडम्बनाओं में वृद्धि हो रही है और खाइयाँ बढ़ रही हैं। दूसरी तरफ, सबसे अधिक आस लोगों की सन्देह करने की शक्ति का हुआ है, आलोचनात्मक अन्तर्दृष्टि का हुआ है। हालाँकि आदमी-आदमी के बीच सन्देह बढ़ा है और थूका-फजीहत बढ़ी

है। यह एक बुरा समय है, जिसकी प्रतिध्वनियाँ साहित्यिक संसार में भी हैं। ऐसे दौर में सत्ता-विमर्शों में युक्तिसंगत ठहराई जाने वाली सारी कट्टरवादी और नव-उदारवादी चीजों को जाँचने की जरूरत है। मेरी नजर में आज पुस्तकों की भूमिका बढ़ गई है। ये बाजार संस्कृति की चपेट में सबसे कम हैं। इसलिए इनमें अधिक निर्भीकता-पूर्वक सन्देह और आलोचना सम्भव है।

मैं आलोचना लिखता हूँ। आलोचक से रचनाकार की शिकायतों का अन्त नहीं है। मेरे लिए आलोचना रचना से कम नहीं है, जिस तरह रचना को भी आलोचना से कम नहीं होना चाहिए। आलोचना का दायरा बढ़ा है। इसमें साहित्य के सभी रूप शामिल हैं, सभी सांस्कृतिक निर्माण शामिल हैं और इसमें अब सभी देश, काल और विषय हैं। आज आलोचना इसलिए भी कठिन है कि जनतन्त्रा का माहात्म्य गाने के बावजूद समाज में बौद्धिक असहिष्णुता बढ़ी है। हम जनतन्त्रावादी हैं, पर किसी मुद्दे पर जरा-सी आलोचना हमें असह्य है। सच्चे साथी को आलोचक होना चाहिए, पर आलोचक अब साथी हो नहीं पाता। हरेक को चाटुकार या पिछलग्गू चाहिए।

मैं अध्ययन के एक प्राचीन केंद्र नालंदा विश्वविद्यालय की कल्पना करता हूँ, ग्रन्थालय नष्ट कर दिया गया था। मुझे गुणादय याद आते हैं, जिनका कथा साहित्य जला दिया गया और अन्तःपैशाची भाषा में लिखी उनकी कुछ कहानियाँ ही बच पाईं। मराठी ग्रन्थ ज्ञानेश्वरी कई सौ सालों तक दबाकर रखी गई। अब वह समय नहीं कि व्यक्ति विदेश भ्रमण के लिए जाए और परफ्यूम की जगह किताबें खरीदकर ले आए या शादी में पुस्तकें उपहार में दे। इतिहास ने किताबों को जलते हुए देखा है। हमारे देश के कई पुस्तकालयों में अब चूहे ही पाठक हैं। जिन साहित्यप्रेमियों के घरों में दुर्लभ पुस्तकों की आलमारियाँ होती हैं, उनके मरने के बाद बेरहमी से अब घर ऐसे कचरे-कबाड़ से खाली कर दिया जाता है। अब नये जमाने के बेटे-बेटियों को पुस्तकों की आलमारी बदसूरत और अवांछित चीज लगती है। अब सीडी के बाहर हर साहित्य निरर्थक है।

मैंने 45 साल पहले सचमुच जो किताब हाथ में थामी थी, वह प्रेमचन्द की थी। पुस्तक जीवनसंगिनी से कम नहीं होती। पुस्तकालयों में जाना, बैठकर देर-देर तक पढ़ना, हरी घास पर बैठकर जिन्दा बहसों में हिस्सा लेना वे सभी मेरी जिन्दगी के रोमांचक अनुभव रहे हैं। ऐसे भी लेखक थे जो कहते थे कि ज्यादा पढ़ने से मौलिकता नष्ट होती है, जबकि पुस्तकें नवता देती हैं और उदार बनाती हैं। मुझे लगा है, मैं पुस्तकें पढ़ते समय अपने देश की एक अनंत नदी के साथ-साथ चला हूँ और चल रहा हूँ और जैसे इसके बिना मैं अधूरा हूँ।

यह सिर्फ पढ़ते जाने से होता है, आदमी को पता चलता है कि वह अभी कितना कम जानता है। ज्ञान तभी ज्ञान है, जब वह हमें विशिष्टता में भी साधारण बना दे। इतना ही नहीं, वह 'मैं' और 'दूसरे' का भेद मिटाता जाए। वह 'मैं' को लगातार 'हम' की तरफ अभिमुख करे। जायसी ने कहा था, 'पढ़े बहुत पर नेह न जाना'। पुस्तकों से रिश्ता का अर्थ है जीवन में परिवर्तन से रिश्ता।

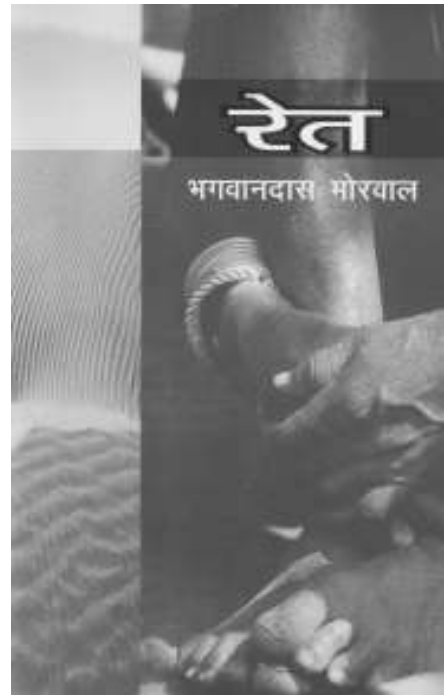
इन दिनों 'ज्ञानी समाज' की बड़ी चर्चा है, सैम पित्रोदा ऐसा ही समाज बनाना चाहते हैं। मुख्य प्रश्न है, क्या हमारा ज्ञान हमें संवेदनशील बनाता है। वह यदि हमें महज चतुर और हुनरमन्द बनाता है तो वह महज 'पुस्तकीय' और उपयोगितावादी ज्ञान है। ऐसा ज्ञान मनुष्य को नहीं देख पाता, वह जितना भी सजागुहा हो। संवेदनशीलता के बिना ज्ञान अधूरा है और ज्ञान के बिना संवेदनशीलता

अधूरी है। हमने समाज में ऐसे ज्ञानियों और साहित्यकारों को देखा है, जो अपने जीवन में बेहद असंवेदनशील या कहेँ क्रूर होते हैं और कई बार कूपमंडूक भी होते हैं।

मुझे कई बार लगा है कि आजकल के साहित्यकारों की पुस्तकें पढ़ते समय यदि हमें उनकी पुस्तकों से सच्चा आन्तरिक आनन्द या वैचारिक ताप पाना है तो लेखक के वैयक्तिक जीवन को भूल जाना चाहिए। पहले के साहित्यकारों के जीवन और वृत्तियों में ज्यादा दूरी नहीं थी। अब पुस्तकें कलात्मक उत्पादन ज्यादा हैं, वे प्रतिष्ठा चिह्न ज्यादा हैं, वे सीढ़ी ज्यादा हैं। आज के समय में लेखकों के साहित्यकार की जगह कलाकार होने की सम्भावना ही अधिक है। अपनी कृतियों में एक रूप और अपने जीवन में दूसरा रूप। यह सही है कि साहित्यकार भी हाड़-मौस से बना एक मनुष्य है, जिसमें दुर्बलताएँ हो सकती हैं। उसमें छल, कपट और लोभ हो सकता है। फिर भी यदि पढ़ना जितने मनुष्य हम थे उससे अधिक मनुष्य होना है तो लिखना भी अधिक मनुष्य होना है। मेरे सामने प्रेमचन्द, मुक्तिबोध, अज्ञेय, नागार्जुन, रामविलास शर्मा जैसे कई साहित्यकारों के उदाहरण हैं। उनके लेखन और उनके जीवन के बीच एक गहरा रिश्ता था।

मुझे समकालीन कृति-संसार में बहुत कुछ बहुमूल्य मिला है। इधर की कृतियाँ जिन्दगी को अनेक कोणों से देखने का अवसर देती हैं। वे जिन्दगी की अनगिनत अनजानी चीजों का ज्ञान कराती हैं और संवेदना का विस्तार करती हैं। आज से पहले हमारा साहित्यिक माहौल इतना विविधता-भरा नहीं था। यह भी एक सच्चाई है कि आज से पहले हमारा समाज इतना विभाजित न था और पहले इतने अधिक सच न थे। आज के साहित्यिक परिदृश्य में सामुदायिक आत्ममहिमंडन और अन्ध-प्रहार की प्रवृत्तियाँ बढ़-चढ़कर हैं, जबकि साझा, सच भी हो सकता है। हर 'स्थानीय' में 'सार्वभौम' की गूँज भी हो सकती है, यही गूँज कृति को महान बनाती है। यह गूँज फिलहाल मद्धिम है, पर भारत जैसे देश में विभिन्न समुदायों के बीच परिवर्तनकारी साझी चेतना का कोई विकल्प नहीं है। निश्चय ही पुस्तकें आन्दोलन का विकल्प नहीं हैं, पर वे जमीन बनाती हैं।

हिंदी में आमतौर पर आज के कृतिकार अपनी कृतियों से ज्यादा बड़े हैं। फिर भी उनमें कई पढ़ते समय जरूर नजदीक लगते हैं। मुझे इधर की कृतियों में राजेश जोशी की 'नेपथ्य में हँसी', उदय प्रकाश की 'और अन्त में प्रार्थना', मैत्रोयी पुष्पा की 'चाक', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', भगवानदास मोरवाल की 'रेत' अच्छी लगी हैं। निर्मल वर्मा के उपन्यास 'अन्तिम अरण्य' और गिरिराज किशोर के 'पहला गिरमिटया' में काफी जान है। मुझे स्वीकार करना होगा कि अपने समय की सभी अच्छी कृतियां पढ़ नहीं पाया हूँ। यह किसी के लिए सम्भव नहीं है, लेकिन परम्परा जितनी ही समकालीनता मुझे आकर्षित करती है। कुंवरनारायण, चन्द्रकान्त देवताले, स्वयं प्रकाश, अरुण कमल, रमेश उपाध्याय, संजीव, मिथिलेश्वर और बद्रीनारायण की रचनाएँ जब भी दिखें, पढ़ने की इच्छा होती है। मुझे यह बराबर लगा है कि हिंदी में कुछ साहित्यकार 'ओवर इस्टीमेटेड' हैं और कुछ की भूमिका पुराने फिल्मों से भिन्न नहीं है।



हिंदी पुस्तकों के समकालीन संसार ने अपनी विविधता की वजह से ही अपना आकर्षण नहीं बढ़ाया है, इसके जरिये जनतन्त्रा के भारतीय स्वर अपनी विशिष्टताओं के साथ व्यक्त हो रहे हैं। हिंदी लेखन में भूमण्डलीकरण की उसी हद तक घुसपैठ हुई है, जिस सीमा तक यह पश्चिमी शैलियों से प्रभावित है। इधर एक बड़ा फर्क आया है, साहित्यिक विशुद्धतावाद और राजनीतिक संकीर्णतावाद ये दो बड़े किले टूटे हैं। इसका अर्थ है, हम विविध सामाजिक अनुभवों की महत्ता का बोध करने लगे हैं। आज का साहित्य सामुदायिक अनुभववाद में न फँसे, इसके लिए जरूरी है कि हमारा रिश्ता गिनी-चुनी पुस्तकों से ही न बँधे, बल्कि हम पुस्तकों और जीवनानुभवों की एक वैविध्य से भरी बड़ी दुनिया में प्रवेश करें।

'विसर्जन' रोचक, पठनीय उपन्यास

प्रमोद

'वि'

सर्जन' राजू शर्मा का दूसरा उपन्यास है। स्वयं प्रशासनिक अधिकारी यानी घर-भीतर का आदमी होने के कारण लेखक को प्रशासनिक भूलभुलैया,

उसकी अव्यवस्थित व्यवस्थाओं, उसकी मशीनी हरकतों, उसके गुटल औजारों, उसकी कछुआ चाल, उसकी ऊलजलूल-ऊटपटाँग योजनाओं उसकी संवेदनहीन कुरूपताओं आदि की प्रथम हस्त जानकारी है। उपन्यास में राजनेताओं, प्रशासकों और धन्धेबाजों के न्यस्त स्वार्थों और उसके दुष्परिणामों की पोल-पट्टी खोली गयी है। भारत सरकार के 'इंटेलीजेंस ब्यूरो' और 'स्पेशल सखवस ब्यूरो' के कुछ उच्चाधिकारी किस प्रकार अपने राजनीतिक आकाओं के हितसाधन के 'टूल' बनकर दिन को रात, रात को दिन, सच को झूठ और झूठ को सच बताते हैं, इसे लेखक ने यथार्थपरक ढंग से प्रस्तुत किया है।

उच्च प्रशासनिक अधिकारी मलाईदार पद के लिए, पदोन्नति के लिए, आख्थक और अन्य प्रकृति के लाभों के लिए किस तरह उखाड़-पछाड़, छल-छद्म, ब्लैकमेलिंग और निकृष्ट आचरण करते हैं, इसे लेखक ने बड़ी कुशलता से उजागर किया है। सरकारी कर्मचारियों की मानसिकता, उनकी कार्यशैली, उनकी अकर्मण्यता, महत्त्वपूर्ण मुद्दों को सामान्य और सामान्य मुद्दों को महत्त्वपूर्ण बनाने की प्रवृत्ति आदि के सटीक नमूने उपन्यास में उपलब्ध हैं। एक स्थान पर आई.बी. यानी 'इंटेलीजेंस ब्यूरो' के बारे में यों तंज किया गया है, "एक बार आई.बी.के वरिष्ठ अफसर मुँह लटकाकर अपनी बीवी के सामने पहुँचे। बोले खबर आई है कि आपके पिता का देहान्त हो गया है। इस पर बीवी खूब हँसी क्योंकि उसे आई.बी. की किसी खबर पर रती भर भरोसा नहीं था!" (39) यह भी कहा गया

है, 'इंटेलीजेंस ब्यूरो' में लोग अपने बॉस के कान में फुसफुसाते हैं, इसलिए उसे 'फुसफुस ब्यूरो' कहा जाता है। (39)

लेखक ने कुछ विलक्षण, बहुरंगी चरित्रों की सर्जना की है। अक्सर दफ्तर लेट आने के कारण एक कर्मचारी का नाम ही 'लेट-लतीफ' पड़ गया। सरकारी कर्मचारी का विलंब से दफ्तर पहुँचना 'चलता है' मान लिया जाता है। काम का नुकसान होता है, तो हुआ करे। व्यवस्था में इस कदर घुन लग गया है कि न कोई कुछ करना चाहता है, न कर पाता है।

उपन्यास का एक प्रमुख पात्रा रोबिन्द्र सेन, उ.प्र. कैडर का आई.पी.एस. अधिकारी हैं और आई.बी. में प्रतिनियुक्ति पर ज्वाइन्ट डायरेक्टर के पद पर तैनात है। उसे जे.डी. (एस.आर.) या ऐसार (यानी ज्वाइन्ट डायरेक्टर सेन रोबिन्द्र) के नाम से जाना जाता है। वह काउन्टर इंटेलीजेंस (प्रतिगुप्तचर्या) का कार्य देखता है। ऐसार की पत्नी कल्पना लखनऊ विश्वविद्यालय में अध्यापन करती है। दोनों में पटती नहीं है। नोक-झोंक और तकरार इस

मुकाम तक पहुँचती है कि दोनों विवाहित होते हुए भी अविवाहित जैसा जीवन व्यतीत करते हैं। दोनों की एकमात्रा पुत्री टपुर दिल्ली में ही सेंट स्टीफेन्स कॉलेज में पढ़ती है और हॉस्टल में रहती है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण पात्रा आदर्श दरबारी है जो 'स्पेशल सखवस ब्यूरो' में कार्यरत है और उसका विवाह निदेशक शिवाल्कर की पुत्री सपना से होता है। शिवाल्कर के वी.आर.एस. लेने के बाद आदर्श दरबारी 'स्पेशल सखवस ब्यूरो' का सबसे कम उम्र का निदेशक बन जाता है। उसके पिता भी, जिन्हें वैद्यक ज्ञान के कारण 'वैजी' कहा जाता है, 'स्पेशल सखवस ब्यूरो' में कार्यरत रहे थे। आदर्श दरबारी की अत्यन्त रूपवती बहन काजल जो नामक अमेरिकी युवक से प्रेमविवाह कर अमेरिका चली जाती है।

आदर्श दरबारी के मातहत पंचम का जनसम्पर्क अधिकारी सुषमा के साथ उत्तेजक अफेयर चलता है। सुषमा के गर्भवती हो जाने पर पति उसे छोड़ देता है। सुषमा भी विलक्षण चरित्रा है। एक ओर वह गर्भ के पितृत्व के बारे में पंचम पर मुकद्मा कर देती है, दूसरी ओर उसके साथ शारीरिक संबंध भी बनाए रखती है। एक अन्य चरित्रा शा वेंकट औसत दर्जे का दलाल है।

उपन्यास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पात्रा प्रोफेसर पी.वी. बी.आर. रंगराजन आई. आई.टी. से इंजीनियरिंग कर और कई कीखतमान स्थापित कर तथा गोल्ड मेडल जीतकर विदेश चला जाता है। वहाँ वह अर्थशास्त्रा का अध्ययन कर डाक्टरेट हासिल कर लेता है और उसके कई पेपर प्रकाशित होते हैं। नब्बे के दशक में भारत लौटकर उसने कई गैर लाभकारी संस्थाएँ खोलीं। उसके सूत्रा थे मुक्त बाजार, मानव अधिकार का संरक्षण, सरकार पर अंकुश और नवउदारवाद। वह चाहता है कि देश की



आख्यक वृद्धि दर मशहूर क्रिब (चीन, रूस, इण्डिया और ब्राजील) रिपोर्ट के अनुमानों से कतई कम न हो। अपनी इस तीव्रच्छा की पूखत के लिए वह हर प्रकार का षड्यन्त्रा करने के लिए उद्यत रहता है। उसका नाम धारावाहिक घोटाले से भी जुड़ा है। बहुमुखी प्रतिभा का धनी पी.वी.दर्शन और वाणी का जादूगर है। कविता, कहानी, श्लोक, शायरी, रुबाइयाँ, हाइकु वह सब जानता है।

उपन्यास का संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है। बोफोर्स तोप घोटाने की सहज ही याद दिलाने वाले धारावाहिक घोटाले की लहर पर नये प्रधानमन्त्री सत्ता में आए थे। आम चर्चा थी कि पुरानी सरकार की मिलीभगत से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और अवांछित बाहरी ताकतों ने मिलकर दूरदर्शन और मीडिया को नष्ट करने और बेचने का धिनौना षड्यन्त्रा किया है। जब अगले चुनाव करीब आए, तो नये प्रधानमन्त्री ने डिब (डायरेक्टर, इंटेलेजेंस ब्यूरो) को बुलाकर कहा कि ब्यूरो इस षड्यन्त्रा को अंजाम तक पहुँचाए क्योंकि चुनाव से पहले षड्यन्त्राकारियों को दण्डित करना जरूरी है। उधर पूर्व प्रधानमन्त्री का मानना था कि वह धारावाहिक घोटाले के मुद्दे पर ही चुनाव हारे हैं और इसी नाते उन्होंने आगामी चुनाव के घोषणा-पत्रा में इंटेलेजेंस तन्त्रा में सुधार का वायदा किया।

डिब ने अपने अधीनस्थ ऐसार यानी ज्वाइन्ट डायरेक्टर (एस.आर.) से कहा कि वह ऐसी जाँच-रिपोर्ट तैयार करे जो दोनों पक्षों को बराबर पसन्द आए, वह दाना चाहिए जो दोनों प्रधानमन्त्री चाव से चुमें। पर ऐसार ने गम्भीरतापूर्वक जाँच की। 'स्पेशल सखवस ब्यूरो' के निदेशक शिवाल्कर के मौखिक आदेश पर आदर्श दरबारी ने धारावाहिक घोटाले की जाँच की थी। ऐसार ने आदर्श दरबारी से गहन पूछताछ की। ऐसार की जाँच में यह बात सामने आयी कि जहाँ कोई स्कैम नहीं था, उसे धारावाहिक घोटाला बना दिया गया। शुरू के आरोप निजीकरण और विनिवेश की धाँधली के थे, पर बाद में सिर्फ धारावाहिकों में घूसखोरी की बात रह गयी। इसके पीछे रंगराजन का दिमाग था और इस अभियान का प्रयोजन सरकार गिराना भी था।

ऐसार ने जाँच-रिपोर्ट में इस बात का भी उल्लेख किया कि सांख्यिकी विभाग में निजी इंटरन नियुक्त किये जाने से सांख्यिकी

विभाग ने अपनी स्वायत्तता निजी कम्पनियों के समक्ष गिरवी रख दी है और संवेदनशील तथा नीतिगत मामलों में उनका दखल हो गया है। इंटरनशिप की नियामक शक्तियाँ क्रिब रिपोर्ट के अनुमानों के अनुसार सांख्यिकी विभाग के आँकड़े प्रस्तुत करवाना चाहती थीं। चूँकि इस योजना के पीछे भी रंगराजन की भूमिका थी, इसलिए ऐसार ने जाँच-रिपोर्ट में रंगराजन की गिरफ्तारी की संस्तुति की।

ऐसार की जाँच-रिपोर्ट दबा दी जाती है। जेल भेजना तो दूर, सरकार रंगराजन को पद्मविभूषण से नवाजती है। एक गुप्त डील होती है जिसके अनुसार डिब ऐसार की जाँच-रिपोर्ट को निष्प्रभावी करने का आश्वासन देता है, बदले में रंगराजन उच्चतम न्यायालय में दायर हैबियस कार्पस रिट वापस लेने का आश्वासन देता है। रंगराजन डिब के यू.एस. ए. में पढ़ रहे बच्चों का खर्च उठाने और नौकरी दिलाने का आश्वासन देता है। अन्य आरोपित अधिकारी आदर्श दरबारी को 'स्पेशल सखवस ब्यूरो' से हटाकर आई.बी. में 'एन्काडर' करते हुए संविलीन कर दिया जाता है। उसे मन मॉगी मुसद मिल जाती है। सरकार रंगराजन की नीतियों पर चलते हुए 'सेज' (विशेष आख्यक जोन) बनाने का निर्णय लेती है। ऐसार को आई.बी. से हटाकर मूल कैडर उत्तर प्रदेश में वापस भेज दिया जाता है।

लेखक ने गुप्तचर्या को उपन्यास का विषय बनाया है। उसने गहराई में जाकर कौटिल्य के 'अर्थशास्त्रा' के सन्दर्भों सहित गुप्तचरी के इतिहास, परम्पराओं, मान्यताओं, सिद्धान्तों, कर्कहाफ सिद्धान्त, क्रिप्टोलॉजी, स्टीगनोग्राफी आदि का वर्णन किया है। लेखक ने दिल्ली के इतिहास विषयक ज्ञान का समुचित सदुपयोग किया है। यही बात सरकारी नियमों, अधिनियमों, आँकड़ों आदि के बारे में कही जा सकती है। विषय की नवीनता जहाँ एक ओर ताजी हवा के झोंके का एहसास दिलाती है, वहीं दूसरी ओर उपन्यासकार की विश्लेषण-क्षमता उपन्यास को शक्ति प्रदान करती है।

लेखक की कुछ व्यंजनाएँ, कुछ सूक्तियाँ दृष्टव्य हैं। "वह उन औरतों में है जो संभोग करते हुए शायद मृत्युंजय जाप भी कर सकती हैं?" (38)

"उसके आगे एक कतार में तीन जोड़े थे जिनकी उँगलियाँ आपस में गुथी थीं। इस पल उनके होंठ नहीं पर उँगलियाँ बुदबुदा रही

थीं।" (66)

"घटना यह थी कि बेचारा मन्त्री संसद में कई बार की कोशिश के बावजूद भी अपने विभाग का हिंदी नाम नहीं ले पाया। वह 'सांख्यिकी' बोलने में असमर्थ था। कई बार उसके मुँह से साकी-साकी निकलता गया। इस पर टहाके लगे और लोकसभा के अध्यक्ष ने छींटाकशी भी की और मन्त्री को हिंदी का ट्यूटर रखने की सलाह दे डाली।" (73)

"आशीर्वाद और मिठाई के बारे में कभी पूछते नहीं, हमेशा देते हैं।" (156)

"आनन्द स्वतः वैध है, मजबूरी स्वतः संदिग्ध।" (180)

"कोई सच्चाई अन्तिम सच्चाई नहीं होती और कोई झूठ अन्तिम झूठ नहीं होता।" (226)

"वह एक साथ डायन और देवी दिख रही थी।" (247)

"वे असल में परम्परागत तरीके से आधुनिक थे।" (258)

"संवेदनाएँ भी यतीम होने से बचती हैं।" (261)

"हर ऐब अच्छे गुण की अतिरंजना होती है।" (270)

कुछ शब्दावलियाँ इस प्रकार हैं। "विरह स्मृति के साइनबोर्ड की तरह" (44), "असहनीय हद तक लजीज" (49), "प्रवासी घुमन्तू" (53), "अपंग बुद्धिजीविता" (75), "रुथलेसली फ्रैन्क" (77) और "गंजा और बेरहम तथ्य" (147)।

कुल मिलाकर सामर्थ्यवान राजू शर्मा के 'विसर्जन' में रोचकता है, पठनीयता है, नवीनता है। लेखक ने नये मुहावरे, नये बिम्ब, नये प्रतीक गढ़ने का सफल प्रयास किया है। इतना जरूर है कि 'टिटिलेटिंग एफेक्ट' या महज 'मजे के लिए डाले गए प्रसंगों के दुहराव से और कुछ महत्त्वहीन विवरणों से बचा जाता, तो उपन्यास में और कसावट आ जाती। तब 'विसर्जन' की गणना रोचक और पठनीय उपन्यासों में न होकर महत्त्वपूर्ण उपन्यासों में होती।

विसर्जन (उपन्यास), राजू शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लि., 7/31, अन्सारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : 450 रुपये

प्रमोद, 1/35, विश्वास खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ-226010 (उ.प्र.), फोन. 9415516721

‘मैं ऐसा प्रेम हूँ, नहीं है साहस जिसमें अपना नाम लेने का’ रोहिणी अग्रवाल

“ह

मने जैसा समाज बनाया है, उसमें मेरे लिए कोई जगह नहीं होगी, कोई गुंजाइश नहीं; लेकिन प्रकृति होगी जिसकी मधुर बूँदें सही और गलत सब पर समान रूप से पड़ती हैं; चट्टानों में कन्दराएँ होंगी जहाँ मैं छिप सकूँगा और गुप्त वादियाँ होंगी जिनकी खामोशी में मैं बिना किसी व्यवधान के रो सकूँगा। वह तारों के साथ होगी जिससे कि मैं अन्धेरे में बिना ठोकर खाए चल सकूँगा और हवा को मेरे पैरों के ऊपर से गुजार देगी जिससे कि कोई मेरे घाव तक न पहुँच सके। वह मुझे अपने विशाल जल से धो देगी और कड़वी बूटियों से मुझे सम्पूर्ण बना देगी।” (पृ. 119)

● “वह गो था, तुनकमिजाज और बेशर्म, जिससे लोग कम-से-कम वास्ता रखना चाहते थे। न उसे कोई घर बुलाता था, न बच्चों से मिलवाता था। वह खतरा था जो किसी को भी और कहीं भी शिकार बना सकता था। चलता-फिरता ड्रेकुला।” (पृ. 79)

घृणा! तिरस्कार! प्रताड़ना! और दम्भ बनकर दसों दिशाओं में चीखता नकार! समलैंगिकों की सीलन भरी बन्द अन्धेरी दुनिया को देने के लिए उजाले को अपनी मुट्ठी में भीचती सभ्य उजली दुनिया के पास और कुछ भी नहीं। क्या इसलिए कि यौनिकता और नैतिकता जैसे नाजुक सवालों पर विचारने का विवेक ही नहीं उसके पास? विवेक जो संवेदना के साथ वैचारिक उदारता, परिवर्तन और आवेगभरी हँकारों के साथ अखण्ड धीरज; और अकुलाहट भरी सर्जनात्मकता के साथ क्रियान्वयन की गहरी

साधना को गूँध कर एक पूरे वक्त की अन्तर्दृष्टि बनता है। यह अन्तर्दृष्टि ही परम्परा और संस्कारों की गाँठों को खोलकर मुड़े-तुड़े इन्सानी वजूद को उसकी पूरी लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई में जाँचने का दायित्व देती है। अन्तर्दृष्टि न होगी तो जमींदोज इन्सानी हकीकतें सामने आएँगी कैसे? ‘पंखवाली नाव’ उपन्यास में पंकज बिष्ट के सामने अहम सवाल अन्धेरे की चीख को सामने लाने का नहीं, चीख को एक कण्ठ, एक आकृति, एक पहचान, एक व्यक्तित्व देना भी है जो बेशक अपनी ‘प्रकृति और नियति के द्वन्द्व’ के बीच भटक रही है, लेकिन उसकी प्रकृति को विकृत और नियति को त्रासद करने में हमारी अपनी भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं। विषय नया ही नहीं, जटिल, संवेदनशील और चुनौतीपूर्ण भी है। कदम-कदम पर हमारी नैतिक मान्यताओं और मूल्य बोध पर चोट करता हुआ। जाहिर



है पक्ष-विपक्ष में एक सुचिन्तित ताखकक डायलॉग पूरे उपन्यास में बुना हुआ है। खास बात यह है कि बहस रेडीकल और कट्टरपंथी के बीच नहीं है। ऐसा होता तो विवाद और फतवेबाजी का रूप लेकर वहीं दम तोड़ देती। समलैंगिक व्यक्ति इन्सान है, कोई अमूर्त रहस्य या गाली नहीं और इन्सान से इन्सानी रिश्ता कायम रखने में संकोच कैसा? इसलिए पंकज बिष्ट अनुपम और विक्रम के बीच दोस्ती का जज्बाती रिश्ता बुनकर विक्रम को अनुपम के तलघर में ले चलते हैं। बेशक इस बीहड़ यात्रा के दौरान विक्रम का संस्कारी मन ‘तान्त्रिकों की गलीज दुनिया’ में उतरने की जुगुप्सा से बार-बार भर उठा है। तमाम संवेदना के बावजूद वह अपनी वैचारिक असहमति दर्ज करने से नहीं चूकता कि “समलैंगिकता मेरे विचार में उतनी स्वाभाविक भी नहीं है जितनी कि स्वाभाविक सिद्ध करने की कोशिश की जाती है। यह वैकल्पिक या आरोपित ज्यादा है, किसी अनिवार्य बुराई की तरह।” (पृ. 60) लेकिन उसकी सहृदयता और अपने से इतर दूसरे को सुनने का धीरज उसे इस प्रश्न पर विचार करने का विवेक देता है कि समलैंगिकता क्या वाकई सेक्सुअल प्रिफ्रेंस का मामला है, जैसा कि अनुपम कहता है? एक अजीब से सजग चौकन्ने भाव के साथ जिन्दगी जीता अनुपम क्या यह नहीं जानता कि इस सेक्सुअल प्रिफ्रेंस को मजबूरी और नियति बनाने वाली यौन उत्पीड़न की घटनाएँ यदि उसकी स्कूली जिन्दगी में न घटतीं तो शायद वह भी हेट्रोसेक्सुअल सम्बन्ध जीता आम आदमी होता? लेकिन बचपन में अपने ही साथियों द्वारा किया गया यौन अनाचार हमेशा इतना बड़ा हादसा नहीं होता कि विकृत

(?) यौन सम्बन्धों के प्रति रुचि जगाने लगे। तो क्या उसके पीछे लालन-पालन में छुपी कोई कसर मनोवैज्ञानिक कारण बन कर उसे समाजानुमोदित जीवन-शैली से विमुख बनाती है? अनुपम को समग्रता में समझने की चिन्ता विक्रम को व्यवस्था की हृदयहीनता पर सवाल उठाने के लिए भी बेचैन करती है कि अपनी पकड़ से बाहर छूटते व्यक्ति पर समाज कहर बरपा कर ही क्यों सन्तुष्ट हो जाना चाहता है? क्यों नहीं अनुपम की इस बात को स्वीकारता कि "मैं जो कुछ भी हूँ अन्ततः सामाजिक सन्दर्भों का ही तो परिणाम हूँ। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जो अनुभव आज अत्यन्त विशिष्ट या



विचित्रा नजर आते हों, वे समाज के बदलाव के प्रतीक हों और आगे चलकर ज्यादा व्यापक हो जाएँ।" (पृ. 115)

उपन्यासकार की खासियत है कि अनुपम को संवेदना और सहानुभूति देते हुए वे इसे लिजलिजी करुणा में नहीं ढालते, बल्कि संयत विश्लेषण की सान पर निरन्तर पैनाते रहते हैं। "सुख मेरे हिस्से में जैसे आता ही नहीं है और आता भी है तो जब तक पता चलता है, छूकर जा चुका होता है" अनुपम के क्रन्दन से विक्रम पसीज उठता है। जाहिर है सम्बन्ध तोड़ने के कारण कठघरे में कभी कुलभूषण है और कभी असिस्टेंट लाइब्रेरियन। वह कुलभूषण के प्रति अनुपम के स्त्री सरीखे एकनिष्ठ प्रेम एवं समर्पण के प्रति विस्मित भी है और सम्बन्ध टूटने पर उसके असुरक्षा बोध के प्रति चिन्तित भी, लेकिन यह चिन्ता अनुपम एक व्यक्ति के स्थान पर पूरी गे बिरादरी की नियति, त्रासदी और मनोविज्ञान की पड़ताल तक ले आती है। गे बिरादरी में सम्बन्धों का आधार पुख्ता नहीं। उपलब्ध अवसर, सुविधा और मन की मौज सब कुछ अस्थायी है। पहले पार्टनर की तलाश, फिर उसे पकड़े रहने की मशकत भावनात्मक असुरक्षा पर निर्भरता में तब्दील होकर अन्ततः सम्बन्ध को बन्धन बना डालती है, ठीक विवाह संस्था में स्त्री नियति की तरह। पुलिस

के छापे और जेल के डर के बीच पुरुष समलैंगिक बेशक सार्वजनिक स्थलों सिनेमाघर, थिएटर, आर्ट गैलरी, होटल पर 'क्रूजिंग' का अवसर निकाल लें, स्त्री समलैंगिकों के लिए वह भी उपलब्ध नहीं। कारण? बेहद विद्रूप ढंग से बताते हैं लेखक कि 'विकृत संस्कृति' का संसार भी लैंगिक विषमता के संस्कार से अटा पड़ा है। पुरुष समलैंगिकता को 'पौरुष का ही एक बिगड़ा सशक्त रूप मान कर नजरअन्दाज करने का' अहम्मन्ध पुरुष-भाव स्त्री समलैंगिकों को 'अनाचार' एवं 'पौरुष के लिए चुनौती' मानकर बेहद आक्रामक एवं असहिष्णु भाव से नोच डालना चाहता है।

किसी भी नई नैतिक आचार संहिता का निर्माण सरल नहीं होता। मौजूदा सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताएँ प्रतिरोधी ताकतें बनकर हर नवीन निखरमति का विरोध करती हैं। इसलिए लेखक अनुपम के चरित्र में विलक्षण प्रतिभा, सजगता, ईमानदारी, रहस्यात्मकता, अद्भुत कैशोर्य एवं प्यूरिटी की भावना की आड़ी-तिरछी परस्पर एक-दूसरे को काटती लकीरों को खींच उसकी निरन्तर द्वन्द्वग्रस्तता, अपने को जस्टीफाई करते रहने की निरन्तर व्यग्रता; और अपने ही अन्तःखरोषों से उपजी अवसादग्रस्त मानसिकता से लड़कर निरन्तर क्षय होते चलने की अनिवार्यता को बेहद कौशल के साथ उभारते हैं। अनुपम

के पास अपने पक्ष को मजबूत करने के लिए होमोसेक्सुअल कालजयी कलाकारों की लम्बी सूची है—माइकल एंजेलो, आस्कर वाइल्ड, डेविड, जोनाथन, प्लेटो, शेक्सपियर, उगलस। डाखवन द्वारा दी गई विकासवाद की वैज्ञानिक अवधारणा के बल पर ही यदि हम समाज के विकास को आँकते आए हैं तो अनुपम के पास विकास-प्रक्रिया के अगले चरण पर पहुँचने का दम्भ भी है कि "प्रकृति ने मनुष्य को जो बनाया है, उससे वह काफी आगे निकल चुका है। सभ्यता का मतलब ही प्रकृति के नियमों का गुलाम होना नहीं है। उन्हें तोड़ना, उन

पर विजय पाना है।" (पृ. 60) और कि "आज सेक्स केवल प्रजनन नहीं है। आनन्द और सहभागिता का माध्यम भी है।" (पृ. 43) विक्रम (लेखक) चकित है कि जहीन अनुपम के लिए अपने पक्ष को मजबूत करने के लिए कोई भी नई दलील रचना कठिन नहीं। समलैंगिक पार्टनर के साथ वह स्त्री की भूमिका जीता है, इसलिए 'सभ्य' समाज के बीचों-बीच एक पुरुष के रूप में 'जरूरत से ज्यादा अटेंशन' माँगती स्त्रियों का 'जॉकनुमा' व्यवहार उसमें गहरी वितृष्णा जगाता है—सम्बन्ध के नाम पर ऐसा जबरदस्त 'माइन्ड कन्ट्रोल मैकेनिज्म' कि 'खाने-पढ़ने से लेकर "सेक्सुअल एक्ट में आपका आनन्द उनके आनन्द से रिलेटेड है।" वह बराबर के सम्बन्ध का हिमायती है जो सबको ब्रीदिंग स्पेस देता हो, जहाँ भूमिकाएं बदली जा सकती हों। इसके लिए वह स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की मौजूदा संरचना में बदलाव के विकल्प पर विचार नहीं करता, पार्टनर के रूप में स्त्री को ही बदल डालता है। "इट्स नॉट बॉडी एक्चुअली विच इज डिटरमिनिंग फैक्टर। मानसिकता और व्यवहार भी काफी हद तक आपके झुकाव के लिए निर्णायक साबित होता है।" एक गहरा आत्मस्वीकार! लेखक इसमें हताशा के साथ हौंसला, प्रयोग के साथ शहादत, सिर उठाकर जीने और शर्मसार मौत मरने के

लिए अनिवार्य दायित्वों को साथ-साथ रखकर सिर्फ देख ही नहीं पाता, बल्कि विचार के लिए चुनौतीपूर्ण सवाल भी उठाता है कि प्रकृति द्वारा निर्धारित शारीरिक नियति का अस्वीकार सामाजिक लांछना क्यों बन जाता है?

लेकिन यह सवाल बहुत जटिल या टेढ़ा नहीं है। लेखक साथ ही एक प्रतिप्रश्न भी उठाता है कि किसी भी यौन अनाचार/सामाजिक उत्पीड़न की वजह से समाज से कटकर अपनी ही परिधि में बन्द समलैंगिक व्यक्ति शरीर को ही जीवन का अर्थ और इति क्यों समझने लगता है? क्यों नहीं समझता कि “यौन व्यवहार मात्रा शारीरिक प्रतिक्रिया नहीं, बल्कि भावात्मक, नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का भी मामला है” (पृ. 92)? कोई भी नई आचार संहिता/सामाजिक सम्बन्ध की संरचना वन-टू-वन मात्रा दो व्यक्तियों के बीच के सम्बन्धों-अपेक्षाओं का खुलासा नहीं, उन दो के जरिए पूरे समाज के सन्दर्भ में विचारणा का सूत्रा बनती है जहाँ उन दोनों के अतिरिक्त शेष छूटे अन्य भी हैं। “मैं भी आपसे किसी औरत की तरह ही प्रेम में भागीदारी करना चाहता हूँ” (पृ. 57) अनुपम का विक्रम से किया गया यह प्रस्ताव विक्रम के मन में इतनी गहरी जुगुप्सा और घृणा जगाता है मानो सरे राह उसका बलात्कार कर दिया गया हो। यानी “शारीरिक क्रियाएँ नहीं, उसके सन्दर्भ निर्णायक होते हैं।” अन्य सब सर्जनात्मक जिम्मेदारियों से कटकर मात्रा देह का उत्सव मानना ही यदि समलैंगिक समाज का अन्तिम लक्ष्य है तो क्या वह मानसिक विकृति का ही लक्षण नहीं?

यह तय है कि प्रश्नों की कंटीली बाड़ लगाकर असुविधाजनक सवालों का जवाब देने से बच जाता है इन्सान। बेशक उपन्यास में लेखक एक के बाद एक कई सवाल उठाते हैं और फलॉग कर दूसरे पर जा पहुँचते हैं, लेकिन यह जवाब से बचने की शातिर युक्ति नहीं है, समस्या को कई कोणों से परखने की अनिवार्यता है जिस पर टिप्पणी देने की कुव्वत हमारे अपने वैचारिक-भावनात्मक दारिद्र्य के कारण सम्भव नहीं। विक्रम (लेखक) की समलैंगिक समाज की जीवनशैली और त्रासदी को लेकर बेहद मुखर

और प्रखर असहमतियाँ हैं, खासतौर पर अनुपम के ‘पोर्ट्रेट’ से ‘छुटकारा’ पाने की बेचैनी के सन्दर्भ में जो उपन्यास का प्रस्थान बिन्दु भी बनती है। अनुपम का ‘पोर्ट्रेट’ विक्रम को अनुपस्थित अनुपम की ‘अतृप्त कामना और वासना’ का स्मारक लगता है जो उसके भीतर ‘वितृष्णा और पाप’ का भाव पैदा करता है। साथ ही मारक व्यंग्य भी “मेरी जीवन शैली पर, मेरे विश्वासों पर, मेरी नैतिकता पर।” यही वह बिन्दु है जो दो भिन्न-भिन्न जीवनशैलियों के टकराव और रिजेशन का स्थल नहीं, बल्कि संवाद का पुल बनता है। यही वह बिन्दु है जहाँ तीव्र घृणा के बावजूद अनुपम की पारिवारिक परिस्थितियाँ और रुचियाँ प्रतीकात्मक अभिव्यजनाओं के साथ खुलकर अनुपम के प्रति संवेदनात्मक रवैया अपनाने का आग्रह करती हैं। अनुपम के मेजर पिता 1971 के युद्ध में मौत के कगार से लौट आए हैं। शत्रु की गोली उनके कान को जलाकर जीवनदान देते हुए सरपट निकल भागी थीं परमवीर चक्र की पात्रता को छीनते हुए। पिता उस जले कान और छिने अवसर के साथ रंजभरी जिन्दगी जीते हुए बीमारी से ‘इग्नोमिनेबल’ (अवमाननापूर्ण अधम) मृत्यु के शिकार हुए। अपरिवर्तनीय स्थितियों की क्रूरता पर शर्मसार होते हुए अनुपम हँस ही सकता है—ऐसी दारुण हँसी जो अन्ततः “वितृष्णा पैदा करने वाली एक असहाय और निरर्थक शारीरिक प्रतिक्रिया में बदल जाती है।” यह हँसी और शर्मसार मौत यौन उत्पीड़न का शिकार होने के बाद स्वयं उसे भी अपनी नियति लगती है। एड्स से तिल-तिल कर मरता पॉप गायक फ्रैडी उसका नायक बन जाता है और मृत्यु के समय चुना हुआ घोर एकान्त उसका अपना गर्वोन्नत निर्णय—“आय डॉट वॉट एनी बास्टर्ड अराउंड मी व्हाइल आय एम डाइंग, सर।” दूसरा प्रतीक है कैक्टस के प्रति अनुपम का अनुराग—कैक्टस जो अपनी उद्दाम जिजीविषा के कारण सारी प्रतिरोधी ताकतों को कंटीली चिढ़ के साथ झेल जाता है; कैक्टस जो तुरन्त फूलकर फलने और झड़ने में विश्वास नहीं रखता, बेहद मंथर गति से अपनी जड़ों को सूखी पथरीली जमीन में रोपता है और दूर-दूर से बूद-बूद में विभाजित

नमी को बटोरकर अपनी हरियाली को बनाए-बचाए रखने का जतन करता है। कैक्टस जो उपेक्षित देखभाल के बावजूद खिलता है तो रंग और सौन्दर्य के अक्षय कोश के साथ। लेकिन इतना धीरज, इतनी प्रतीक्षा है समाज के पास—कैक्टस रूपी अनुपम सरीखे समलैंगिकों के जीवन-दर्शन को समझने की?

नहीं, फिर से प्रश्न नहीं। जवाब साथ ही पिरोते हैं लेखक। समाज के पास न धीरज है, न समय और न संवेदना। अनुपम परिवार के माथे पर कलंक है। वह मर चुका है—स्वाभाविक मौत नहीं, अप्राकृतिक मौत। वह विनष्ट किया जा चुका है—परिवार की स्मृतियों से ही नहीं, अपनी तमाम टीस, आकांक्षाओं और सपनों के साथ जिन्हें आत्मकथात्मक उपन्यास की पाण्डुलिपि में दर्ज कर वह समाज को सौंपना चाहता था। वह सम्बन्धों की हर पारम्परिक जकड़बन्दी से मुक्त कर दिया जा चुका है। माँ तक उसका पोर्ट्रेट स्वीकारने को तैयार नहीं। सम्बन्धों की नई जमीन की पैरवी करती उसकी पाण्डुलिपि घरवालों द्वारा ही गायब कर दी जा चुकी है। उसके ‘संगी-साथी’ छुपकर, पिटकर, संगठित होकर अपने होने के ‘अपराध’ को कभी-कभी चीख-पुकार कर ‘निर्लज्ज’ ढंग से जीने लगते हैं तो सभ्य समाज में हड़कम्प मच जाता है। ‘नो एंट्री’ की निषिद्ध तख्ती को अँगूठा दिखाकर इस बहती नाव को पंख लगाने का विकल्प तो दे देती है। हमारी वैचारिक संवेदनात्मक उदारता लेकिन उड़ने का आकाश भी मुहैया कहाँ करा पाती है? पंकज बिष्ट समलैंगिकों के ऊहापोहों को ही नहीं, हमारे अपने द्वन्द्वों और संकीर्णताओं को टटोलने का आग्रह भी करते हैं उपन्यास में। एक बड़ा-सा प्रश्नचिह्न पहेली बनकर समय ‘काटने’ की व्यर्थभरी माथापच्ची नहीं हुआ करता, अनदेखी अतल गहराइयों में संवेदना का चिराग लेकर उतरने की जानलेवा जरूरत भी बन जाता है।

पंखवाली नाव, पंकज बिष्ट, राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : 175 रुपये

258, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, रोहतक-124001, मो.-09416053847

आत्मकथात्मक—लेखन का नया आयाम

प्रेमशीला शुक्ल

सु

रंग' स्पानी भाषा के ख्यातिलिख कथाकार एर्नेस्तो साबातो का अद्भुत उपन्यास है। यह उपन्यास सुप्रचलित आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। एर्नेस्तो

साबातो की रुचि यहाँ औपन्यासिक शिल्प के किसी नये मानक की रचना में नहीं है। वे प्रचलित शैली की नई सम्भावना की तलाश में दिखाई देते हैं। यहाँ वे एक बिल्कुल नये किस्म के चरित्रा की रचना करते हैं। इस चरित्रा का नाम है खुआन पाब्लो कास्तेल। खुआन पाब्लो कास्तेल न तो एक व्यक्ति चरित्रा है, न अपने जैसे अनेकानेक व्यक्तियों का प्रतिनिधि चरित्रा। वह एक प्रतीक चरित्रा है। स्वयं वह अपने को 'बुरे कामों का प्रतीक' कहता है। 'सुरंग' से गुजरने वाला पाठक उसे मात्रा इस रूप में नहीं देखता, उसके समय की तमाम अच्छाइयों—बुराइयों के चरम के परम भोक्ता के रूप में पाता है। खुआन पाब्लो कास्तेल अपने समय का प्रतीक है, मनुष्य की सभ्यता के एक विशेष कालखण्ड का। काल के अनन्त प्रवाह में इस विशेष कालखण्ड को बीसवीं शताब्दी कहते हैं। खुआन पाब्लो कास्तेल के चरित्रा सृजन के लिए साबातो ने उपन्यास में अन्य अनेक छोटे-बड़े प्रतीकों को ग्रहण किया है। कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतीक हैं—भीड़, सुरंग, मकान एवं आखकटेक्ट। भीड़ के द्वारा उपन्यासकार ने बीसवीं शताब्दी की सभ्यता को व्यक्त किया है। 'सुरंग' इस सभ्यता के आदमी द्वारा अपने व्यक्तित्व के चारों तरफ बना लिया गया एकान्त है, जिसमें वह अकेलेपन की अतीव पीड़ा को भोगते हुए अपने समय की लम्बी और उलझावपूर्ण यात्रा को तय करने के लिए विवश है। भीड़ में उस जैसी

सुरंगें अनेक हैं, समान्तर, साथ-साथ चलती हुई, कभी न मिलती हुई। मकान मनुष्य का स्वप्न है। इसमें उसकी लालसायें, स्पृहायें निवास करती हैं। इन्हें बनाने वाला आखकटेक्ट कलाकार है। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक है—खुआन पाब्लो द्वारा बनाया गया 'मातृत्व' शीर्षक चित्रा। यह 'एकान्त और अन्तिम प्रतीक्षा' का प्रतीक है। इसी के द्वारा 'सुरंग' के समस्त अर्थ सन्दर्भ खुलते हैं, कुंजी है यह। सभी प्रतीकों के पीछे दूर तक झिलमिलाती अर्थ छवियाँ हैं। 'सुरंग' में यहाँ-वहाँ उपजी विध्वंस मनःस्थितियों तक पहुँचने में इन प्रतीकों का श्रृंखलाबद्ध सुनियोजन पाठकों का मार्ग किंचित सुगम बनाता है।

सभ्यता के हर दौर की अपनी उपलब्धियाँ और सीमाएँ होती हैं। बीसवीं शताब्दी की भी है। इस दौर ने मनुष्य की इन्द्रियों की संतृप्ति के साधनों में गुणात्मक, साथ ही परिमाणात्मक वृद्धि ही नहीं की उन्हें उदीप्त करने के भी साधन विकसित किये।



इतना ही नहीं इन्द्रियों की लोलुपता के कारणों और संतृप्ति के प्रभावों का विश्लेषण मनुष्य के अभ्यन्तर में पैठकर करने की क्षमता भी इस दौर ने पा ली है। यह मनुष्य की वैयक्तिकता का हिमायती भी है और सामूहिकता का स्वांग भी करता है। इसकी सामाजिक संरचना में मनुष्य अनिवार्यतः भीड़ का हिस्सा है किन्तु वह भीड़ में शामिल नहीं होता। अपनी-अपनी खोह में बन्द सरकते-घिसटते प्राणियों की जमात है बीसवीं सदी का समाज। वैज्ञानिक वस्तुगतता इस समाज के व्यक्ति को विवेकहीन, घातक आत्मगतता की सुरंग में धकेल देती है। गणितीय निदान और आगमन—निगमन के तर्क उसे प्रयोजनहीन गंतव्य तथा आत्मघाती निष्कर्षों तक ले जाते हैं। कथाकार एर्नेस्तो साबातो एक कप्तान का सुन्दर सटीक उदाहरण देते हैं। एक ऐसे कप्तान की, जिसने गणित की गणनाओं पर अपने जहाज को स्थिर किया हो, बिना इधर-उधर भटके सीधा अपने मार्ग पर चलकर गन्तव्य तक पहुँचा हो लेकिन उसे यह न मालूम हो कि वह उस लक्ष्य तक किस प्रयोजन से जा रहा है। 'सुरंग' में अनेक ऐसी स्थितियाँ—परिस्थितियाँ हैं, जिनसे बीसवीं सदी का यथार्थ खुलकर सामने आता है। खुआन पाब्लो कास्तेल इन्हीं स्थितियों—परिस्थितियों का उद्धृत परिणाम है।

खुआन पाब्लो की कुछ अपनी स्थापनाएँ हैं, प्रत्याशाएँ हैं। वह स्वीकार करता है—'मेरा अकेलापन मुझे भयभीत नहीं करता। वह ओलंपिक की भाँति ऊँचा है।...मैं यह स्वयं नहीं जानता कि सच्चे प्यार से मेरा तात्पर्य क्या है।...मानवता को लेकर भी मुझमें कोई विशेष मोह नहीं है और न ही इन पन्नों में छिपी किसी शिक्षा के प्रति मुझमें निष्ठा का

भाव है, मुझे जिस बात ने प्रेरित किया है, वह एक कमजोर आशा है कि शायद कोई मुझे समझ पाए। भले ही वह समझने वाला अकेला व्यक्ति क्यों न हो।" कास्टेल की पीड़ा है न समझे जाने की। वह कहता है कि "मैं एक लाख रूसियों की भीड़ के सामने चिल्ला-चिल्लाकर अन्तिम साँस तक कह सकता हूँ कि मुझे किसी ने नहीं समझा। क्या उस पर ध्यान देंगे जो मैं कहना चाहता हूँ? एक व्यक्ति था जो मुझे समझ सकता था। लेकिन था वह व्यक्ति, जिसे मैंने मार दिया।" भीड़ का हिस्सा कास्टेल भी है किन्तु उसने कभी स्वयं को उसमें शामिल नहीं किया, अपनी सुरंग की यातनाओं के बन्दीगृह में छटपटाता रहा, फिर असंभाव्य अपेक्षा की। जब अपेक्षा पूरी होने की सम्भावना दिखी तब जड़ ही काट दी। वह मानता है कि उसने अपराध किया है।

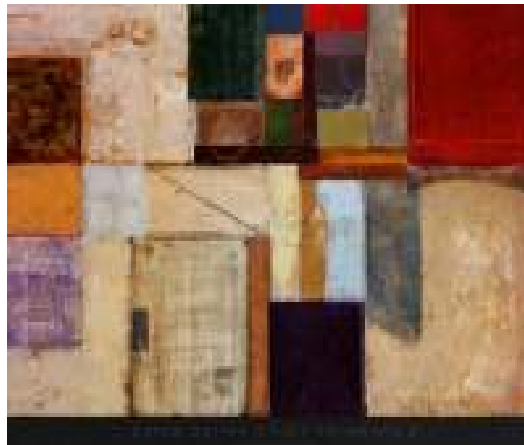
'सुरंग' खुआन पाब्लो कास्टेल की अपराध कथा है। इस अपराध कथा में जासूसी उपन्यासों का रहस्य-रोमांच नहीं है, मानवीय स्थितियों की दुरभिसंधियों हैं, जो मनुष्य की नीयत और नियति से संचालित होकर जाने-अनजाने घटित होती है। उपन्यासकार दुरभिसन्धियों के अभिप्रायों को आहिस्ता-आहिस्ता खोलते हैं।

खुआन पाब्लो का मस्तिष्क किसी अँधेरी भूल-भुलैया की तरह है, कभी-कभी वह काँप जाता है, जिससे अनेक रास्ते प्रकाशित हो जाते हैं। साबातो अत्यन्त धैर्य और सजगता के साथ वहाँ प्रवेश करते हैं और पाठकों पर यह दायित्व देते हैं कि वे भी ऐसा ही करें। 'सुरंग' के रास्ते हड़बड़ी में तय नहीं किये जा सकते। इसकी पाठ-यात्रा में कई बार ठहरने की और अक्षरों को पढ़ने के साथ परिवेश को सूँघने की माँग दिखाई देती है। रास्ते में ऊबड़-खाबड़ स्मृतियाँ हैं। स्मृतियाँ धुँधली रोशनी की तरह हो गयी हैं और वे शर्म के अजायबघर में रखी गलत चीजों को ही प्रकाशित करती हैं। ऐसा नहीं है कि यहाँ सही चीजें नहीं हैं लेकिन खुआन पाब्लो उन्हें तरजीह नहीं देता, देना चाहता नहीं। वह उन्हीं चीजों को महत्त्व देता है, जिनसे उसके निष्कर्ष प्रमाणित होते हैं। उसका कार्य व्यापार रेखागणित के प्रमेयों की उपपत्तियों जैसा है, जहाँ निष्कर्षों को प्रमाणित करने के

लिए निश्चित स्थापनाओं को प्रारम्भ में ही स्वीकार कर लिया जाता है।

खुआन पाब्लो कास्टेल एक चित्रकार है। मारिया इरिवार्ने से उसकी मुलाकात महज एक संयोग है, यद्यपि वह ऐसा मानना नहीं चाहता। जिस दिन यह संयोग घटित हुआ, वह खुआन पाब्लो के चित्रा की प्रदर्शनी का पहला ही दिन था। एक लड़की चित्रा के सामने बड़ी देर तक खड़ी रही। लड़की का ध्यान न तो आस-पास के लोगों पर था न ही सम्पूर्ण चित्रा पर। उसकी दृष्टि खिड़की के दृश्य पर टिकी रही, पाब्लो सारा समय उसे उत्सुकता से देखता रहा। लड़की के भीड़ में खो जाने के बाद उसमें एक अजित भय और पुकारने की उत्कट इच्छा दोनों एक साथ अनुभव हुई। लेकिन कैसा भय? खुआन पाब्लो भय को विश्लेषित करता है। "यह एक ऐसा भय था जैसे कोई अपनी सारी पूँजी सट्टे में एक ही संख्या पर लगाकर हार गया हो। उसके ओझल हो जाने पर मुझे कचोटने वाली चिढ़ सी महसूस हुई कि मैं उसे कभी नहीं मिल सकूँगा, वह बुएनोस आइरेस के लाखों लोगों की भीड़ में खो गई है।" वह एक शाम सड़क पर दिखाई देती है। खुआन पाब्लो कहता है। "मैंने उसे तुरन्त पहचान लिया। मैं उसे भीड़ में भी पहचान सकता था।" वह उसका पीछा करता है और अनेक दुस्सह मनःस्थितियों से गुजरते हुए अन्ततः उसे पा लेता है। भीड़ का एक प्राणी-एकान्त और अकेलेपन से त्रास्त प्राणी-शिदत से कोशिश करता है और अपना अभीष्ट प्राप्त कर लेता है।

विडम्बना यहीं से शुरू होती है। खुआन पाब्लो अपने अभीष्ट की सुरक्षा नहीं करता, उसका नाश करता है। वह दूसरे की



वैयक्तिकता का समादर नहीं करता, अपनी वैयक्तिकता का आरोप करता है। वह बार-बार जताना चाहता है कि उसने जो जाना है, जो समझा है, सच्चाई उससे इतर हो ही नहीं सकती। यह मात्रा अहंवादिता नहीं है, वस्तुगत ज्ञान की प्रामाणिकता से उपजी विवेकहीन हठधर्मी आत्मगतता है, इसका स्वभाव है अमानवीय आचरण करना। इसी से संचालित होकर खुआन पाब्लो आत्महत्या नहीं करता, हत्या करता है और आशा करता है कि शायद कोई उसे समझ जाए।

इस मनोवृत्ति से संचालित होने वाले व्यक्तित्व के अनेक पेंचोखम हैं। उसे दम्भ है कि वह अपनी प्रकृति को पहचानता है। अहंकार उसके लिए प्रगति का विशिष्ट गुण है। वह कहता है कि "ऐसा नहीं है कि मैं तर्क नहीं जानता, उल्टे मैं हमेशा तर्क करता हूँ।...मैं यह अनुभव करता हूँ कि मुझे जो करना है, उसके लिए आपकी जरूरत है, हालाँकि अभी मैं इसका कारण नहीं बता सकता।...कोई व्यक्ति बेहतर कारण से किसी से घृणा कर सकता है क्योंकि वह उसे अन्दर तक गहराई से जानता है।" अन्दर तक गहराई से जानने का झूठा विश्वास उसे हत्या के लिए प्रेरित करता है। वह भ्रम में नहीं है। उसका निर्णय तर्क पर आधारित निश्चयात्मक बुद्धि का परिणाम है। खुआन पाब्लो के साथ चलते हुए उसके विलोम रूप में उन्नीसवीं सदी की अन्ना कैरेनिना की याद बार-बार आती है।

बीसवीं सदी को परखने के लिए एर्नेस्तो साबातो उसे प्रेम में डालते हैं। प्रेम ही है, जो दो आत्माओं में एक अनुभव बनकर उतरता है। क्या खुआन पाब्लो और मारिया इरिवार्ने के साथ यह आश्चर्य घटित होता है?

मारिया इरिवार्ने की ओर खुआन पाब्लो के आकर्षण का स्पष्ट कारण है। उसे लगता है कि मारिया ही उसे समझ सकती है, एक व्यक्ति दूसरे को समझ सकता है। फिर, उसे लगता है कि मारिया को न देखना असीम पीड़ा है। क्या मारिया के साथ भी ऐसा ही है? यदि हाँ तो उसकी चाहत का क्या रूप है? कुत्ते के प्रति चाहत? बच्चे के प्रति चाहत? और..और वह अल्पदे को कैसे चाहती है,



मेरे द्वारा चित्रित एक दृश्य में एक-दूसरे से मिलने के लिए,... अन्ततः उन रास्तों के एक हो जाने और मिलन का समय आ जाने की रहस्यमय उद्घोषणा हो चुकी थी।" आत्माओं के परस्पर संप्रेषण का यह मूर्खतापूर्ण भ्रम था। सत्य था अनेकानेक लोगों की

हंटर को कैसे चाहती है? किस रूप में? वह शब्दों और घुमावों पर प्रश्न करना शुरू करता है। संप्रेषण के निराश क्षणों में वह मारिया में शारीरिक भावना की तलाश करता है। उसकी तलाश अत्यन्त क्रूर और हिन्म्र है। सम्प्रेषण के कुछ क्षण उसे प्राप्त होते हैं किन्तु ये अत्यधिक अस्थायी और छोटे हैं। शारीरिक क्रिया के माध्यम से इसे लम्बा और स्थायी बनाने की कोशिश में वह अजीबोगरीब बीमार मनःस्थिति में पहुँच जाता है। उसे लगता है कि मारिया सच्चा और लगभग अविश्वसनीय आनन्द प्राप्त करने का अभिनय करती है। इस भावना के आते ही वह और क्रूर हो उठता है। खुआन इसे धोखा कहता है। एक वेश्या में मारिया जैसी शारीरिक प्रतिक्रिया और हाव-भाव देखकर उसका यह विचार और अधिक पुष्ट होता जाता है। खुआन पाब्लो स्वयंसिद्ध तर्कों से प्रमाणित करता है कि मारिया अपनी संवेदनाओं को लेकर धोखा देने में सक्षम है। वह धोखा का खेल-खेलती है—अपनी संवेदनाओं से, अपने अन्धे पति से और खुआन पाब्लो से।

यह प्रेम, सेक्स और धोखा का मध्यान्तर है। सबसे बड़ी घटना इसके बाद घटती है। मारिया की हत्या के उद्देश्य से खुआन पाब्लो बाग में छिपकर उसकी प्रतीक्षा करता है। यहाँ उसे समय के भीतर के समय का साक्षात्कार होता है। अनाम ब्रह्मांडीय समय से अलग उसका अपना समय है। अपने समय में खुआन देखता है—“जैसे हम दोनों समानान्तर तंग रास्तों और सुरंगों में जी रहे थे—बिना यह जाने कि हम एक समय में इकट्ठी आत्माओं की तरह एक-दूसरे के बगल में थे—अन्ततः उन तंग रास्तों में

स्मृतियों के पुनर्नर्माण रूप में सृजित पाब्लो द्वारा बनाया गया चित्र, चित्र में सृजित समुद्र, खिड़की, समुद्र की ओर देखती हुई किसी गम्भीर व्यक्ति को पुकारने की इच्छा लिए हुए लड़की और उसकी एकान्त अनन्त प्रतीक्षा। प्रतीकों के निहितार्थ बताते हैं, एकान्त प्रतीक्षा सुरंग के बीहड़ अकेलेपन की उपज है। आत्माओं के एक हो जाने और अगल-बगल रहने में फर्क है। ऐसे लोग मिलन की प्रतीक्षा ही कर सकते हैं। अनिवार्य परिणाम के रूप में उपन्यास में मारिया की हत्या हो जाती है और खुआन पाब्लो के शरीर के भीतर एक काली सुरंग बढ़ने लगती है, उसकी अँधेरी और अकेली सुरंग। खुआन पाब्लो का समय सुरंग के बाहर जीवित नहीं रह सकता।

“बयां करना एक बात है, उपन्यास लिखना दूसरी बात। एर्नेस्तो साबातो उपन्यास लिखते हैं। वे समय के भीतर के समय और आदमी के भीतर के आदमी के सत्य का उद्घाटन करते हैं। वे शब्दों के वैभवपूर्ण संसार में अपूर्ण भाषा को पूर्ण बनाने के लिए नई तकनीकों का इस्तेमाल करते हैं और इस आत्मकथात्मक लेखन शैली की नई सम्भावना सच होती है।

उपन्यास के अनुवाद की उपलब्धियों का इससे बेहतर प्रमाण क्या हो सकता है कि अनुवाद मूल स्पानी उपन्यास को पढ़ने को उकसाता है, कि देखा जाए, उस भाषा में यह सब कैसे लिखा गया है।

सुरंग, एर्नेस्तो साबातो, अनुवाद, प्रकाशन संस्थान, दरियागंज, नई दिल्ली—110002 मूल्य

प्रदक्षिणा, उमानगर दक्षिणी, सी.सी.रोड, देवरिया—274001 (उ.प्र.) मो—09450925784

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय
हिंदी विश्वविद्यालय का
प्रकाशन



चार खंडों में



हिंदी साहित्य का
मौखिक इतिहास
(स्मृति—संवाद)

शोध एवं संपादन
नीलाभ

मूल्य
250/— (प्रति खंड)
1000/— (चारों खंड)

एकमात्रा वितरक
शिल्पायन

10295, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा,
दिल्ली—110032

कहानियाँ, जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति हैं

शशिकला त्रिपाठी

उपसंहार' प्रेमकुमार मणि की कथाकृति है। कहानियों को पढ़ते हुए कहानीकार के प्रति जो धारणा बनती है वह यह कि प्रेमकुमार प्रेमचन्द की विरासत को सँभालने वालों की श्रेणी में नहीं हैं अपितु अपनी राह बनाने वाले कहानीकार हैं। परम्पराबद्ध करने की अनिवार्यता हो तो उन्हें शिल्पाग्रही-रचनाकारों की पंक्ति में खड़ा करना होगा जिनके लिए कहानी जीवन का अनुसृजन ही नहीं, कलाकृति भी है। इसीलिए कथ्य, दृष्टि प्रस्तुत कहानी-संग्रह में सीधे सपाट ढंग से अभिव्यक्त नहीं है। विचारधारा भी आरोपित प्रतीत नहीं होती। फिर भी कहानियों में समय, समाज की व्याख्या ही नहीं, आलोचना भी है और वह भी व्यंग्य की तल्खी के साथ, कहानीकार की संवेदना व सामाजिक सन्दर्भ कभी पात्रा की डायरी में, कभी स्मृतियों में, कभी स्वप्न में तो कभी जीवन के खुरदुरे यथार्थ में व्यंजित होते हैं। सामाजिक वर्गीय स्थिति, आख्यक-समानता, रिश्तों का खोखलापन, बेरोजगारी और गरीबी के साथ ही जन-आकांक्षाएँ, दुर्बलताएँ और भ्रष्टाचार को कहानियाँ फषेकस करती हैं।

प्रस्तुत संग्रह में कुछ कहानियाँ वैचारिकता पर केन्द्रित हैं। समकालीन राजनीति में दलगत वैचारिकी अब महज आवरण या कवच हो गई है। राजनीतिज्ञों में वैचारिक आग्रह, निष्ठा के स्थान पर अवसरवाद या कुर्सी की लोलुपता का भाव प्रबल हो गया है जिससे किसी भी राजनेता पर सन्देह करना जनस्वभाव हो गया है। "आज यदि कोई कम्युनिस्ट पार्टी में है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह जातिवादी

नहीं है। यदि किसी समाजवादी कही जाने वाली पार्टी में है तो यह नहीं कहा जा सकता है कि वह व्यक्तिगत पूँजी का विरोधी है। आज तो कांग्रेसी रामनामी ओढ़ सकता है और भाजपाई वोट के लिए गोमाँस खा सकता है। कम्युनिस्टों के हाथ में कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो की जगह मण्डल कमीशन की रिपोर्ट है और लोहियावादी 'बैंडिटक्वीन' को छाती से लगाए घूम रहे हैं। सब कुछ गड्डमड्ड हो गया है।" (स्वेटर, पृ. सं. 69) इस तल्ख गहरी टिप्पणी से कहानीकार की राजनीतिक-चेतना की प्रतीति ही नहीं होती, उसका आक्रोश भी मुखर होता है। आज लोग वैचारिकी से जुड़ते हैं तो उनका उद्देश्य जनकल्याण नहीं, वैयक्तिक लाभ होता है। अपनी राजनीतिक और सामाजिक हैसियत को सुदृढ़ करना होता है ताकि पद, प्रतिष्ठा, धन और सम्मान प्राप्त हो सके। इसी आकर्षण में 'स्वेटर' कहानी का मुख्य पात्र

अपने सिद्धान्त के लिए मानसिक स्तर पर जायदाद तक बेचने का मन बना लेता है। किन्तु वही अन्त में 'सा' को कुर्सी पर बैठकर स्वेटर बुनते हुए देखता है। सच्चाई यह कि विचार का व्यामोह बहुधा मानसिक होता है जबकि व्यवहार में संस्कार हावी होता है। व्यावहारिक बुद्धि का वह प्रयोग करते हुए लाभ चाहता है।

संग्रह में एक कहानी '1984' है। जार्ज आरवेल की कृति के तर्ज पर। डायरी लेखन के माध्यम से कहानीकार का यह अभिमत मालूम होता है कि किसी व्यक्ति का आत्मसंघर्ष केवल वैयक्तिक दस्तावेज ही नहीं होता, सामाजिक भी होता है। आज के नवयुवक प्रतिस्पर्धा से गुजर रहे हैं। उनमें राजनीतिक-सामाजिक चेतना का जबर्दस्त बोध होता है। मसलन, डायरी लेखन के संदर्भ हैं भ्रूण हत्या, लोकतन्त्रा, चुनावी प्रक्रिया और है पारिवारिक, सामाजिक समस्या। लेकिन कानूनी तौर पर वह अवयस्क माना जाता है। कहानी में गाँधी, विनोबा जैसे महान् पुरुषों की चर्चा के साथ ही 6 अगस्त 1945 को अमेरिका द्वारा जापानी शहर हिरोशिमा पर एटमबम गिराए जाने का उल्लेख है मगर, इन्दिरा गाँधी की हत्या और हिन्दू-सिक्ख हिंसा का उल्लेख न होना चकित करता है। बहरहाल व्यवस्था और समाज की विद्रूपताओं को युवावर्ग सहन नहीं कर पाता। 'कास के फूल' का कुम्भकार युवक विचारशील होने के कारण दुर्गापूजा जैसे आयोजन पर ही सवालिया निशान लगाता है। महिषासुरमर्खदनी अपराधियों को क्यों बरकत कर रही हैं और उस जैसे गरीबों पर वह कृपावान क्यों नहीं हैं, जिसका पेशा ही मूखत-निर्माण है। आक्रोश के चरमोत्कर्ष पर कुकर्मियों का



पर्दाफाश करने के लिए वह दुर्गा की प्रतिमा न बनाकर उन्हीं लोगों की मूर्ति बनाता है जो भ्रष्टाचारी या अत्याचारी हैं।

विश्व मानचित्रा में आख्यक, भौतिक विकास की दृष्टि से भारत की स्थिति मजबूत भले हुई हो मगर बेरोजगारी समाप्त नहीं हुई है। बेरोजगारों की त्रासदी का ही बयान करती है कहानी 'खोज'। विषय वस्तु की गम्भीरता के बावजूद कहानी में रोचकता, सरसता और प्रवाह है। मुख्य पात्रा ऐसा युवक है जो शहर में किराए का कमरा लेकर नौकरी की तलाश में भटक रहा है मगर, अपने पड़ोसी साथी से काल्पनिक दफ्तर और बीवी-बच्चों की बातें करता है, उसकी निगाह में महत्वपूर्ण होने के लिए। एक दिन फंतासी से बाहर आता है और सत्य-वचन कह उठता है कि "और मैं इतना झूठ न बोलता तो क्या मैं बिल्कुल कूड़ा न समझा जाता।" रचनात्मक-यथार्थ की संश्लिष्टता के कारण कहानी में मार्क्स, फ्रायड और सार्त्रा हाथ मिलाते हुए प्रतीत होते हैं। यह सच है कि उदारिकरण और भूमण्डलीकरण के कारण काम के अवसर बढ़े हैं। विश्वग्राम की परिकल्पना साकार हुई है। परन्तु आज की दुनिया उन लोगों के लिए है जो अत्यधिक मेधावी हैं, सामान्य लोगों के लिए नहीं। नतीजतन आत्महत्या की घटनाएं बढ़ रही हैं।

'उपसंहार' की कहानियों को टाइपड कहानियाँ नहीं कहा जा सकता। कहानियों में विषयवस्तु की विविधता है। जीवन और समाज के विभिन्न सरोकारों और अन्तःकरण की उथल-पुथल को रेखांकित करता कहानीकार शासनिक, प्रशासनिक गतिविधियों और खामियों पर भी प्रकाश डालने से परहेज नहीं करता। 'इमलियाँ' कहानी का कथन यही है कि सरकारी अनुदान चाहे विकास के नाम पर प्राप्त किए गए हों या राहत कार्यों के लिए, मध्यस्थ उदरस्थ कर लेते हैं। अफसर, इंजीनियर और ठेकेदार आदि के बंदरबॉट के कारण समुचित विकास कार्य नहीं हो पाता। दुःखद यह कि विकास के नाम पर गाँव, शहर की पहचान मिट रही है। अँग्रेजों ने आवागमन की सुविधा और अन्य कार्यों के लिए जंगल नष्ट करने की जो शुरुआत की वह अनवरत कायम है। इसीलिए, आम पर्यावरण की रक्षा और वृक्ष

लगाओ अभियान की अनिवार्यता महसूस की जा रही है। ऐतिहासिकता और काल्पनिकता के मिश्रण से कहानी प्रभावी हुई है। पूरे विश्व में 'ग्लोबल वाकमग' पर जो चिन्ता जताई जा रही है, उसके पीछे कारण हरियाली समाप्त करना ही है। वृक्षों की कटान से आज कंक्रीट के जंगलों की अधिकता है।

'उपसंहार' कहानी का कथ्य यह है कि प्रेम का प्रतीक ताजमहल आज भी प्रेम के लिए लोगों को उद्वेलित करता है। अवयस्कों तक में 'छोटे छोटे ताजमहल बनते हैं। मुख्य पात्रा उत्तम पुरुष विश्वविद्यालयीय छात्रा है जो अपने गाँव की लड़की एस से प्रेम करता है। उसका यह प्रेम ताजमहल-पाठ के शिक्षण से आरम्भ होता है और सूरदास की इस पंक्ति पर ठप्पा लगाता है कि 'लरिकाई की प्रीति कहो अलि कैसे छूटै'। प्रेमकुमार स्मृतियों का प्रयोग महत्वपूर्ण ढंग से करते हैं। "कुछ स्मृतियाँ होती हैं जिनका छाता हमेशा हम पर तना रहता है और उसके साए में ही हम अपनी जीवन-यात्रा तय करते हैं।" उत्तम पुरुष स्मृतियों के माध्यम से ही गाँव, गाँव की गरीबी, वर्गभेद, लिंगभेद और रंगभेद (खासतौर से लड़कियों के लिए) जैसी सामाजिक, सांस्कृतिक कुरीतियों पर प्रकाश डालता है। व्यक्ति, समाज की द्वन्द्वात्मकता प्रेम जैसे मुद्दे पर अधिक प्रखर होती है।

कई कहानियों में गाँव है, गाँव का पिछड़ापन है, गरीबी व बदहाली है और उन्हीं



विकट स्थितियों में पलती, बढ़ती, जिन्दगियाँ हैं और उनकी लालसाएँ। अगरचे, वे बेहतरी के लिए शहर जाते हैं तो भी न उनकी ख्वाहिशें पूरी होती हैं और न दूर होती है गरीबी। 'गाँव', लालटेन बाजशर, बीमार मछली, कब्रगाह, भात आदि कहानियों में निम्नवर्गीय जीवन को संवेदनात्मक स्पर्श दिया गया है। 'गाँव', कहानी में स्कूल रिकशाचालक और उसके बेटे चन्दन के माध्यम से कहानीकार अमीर बनाम गरीब की सामाजिक स्थिति और मनोदशा का वर्णन करता है। मनोवैज्ञानिक तथ्य यह कि गरीब बच्चे जो गाँवों में अपने समकक्ष के बीच निर्द्वन्द्व भाव से रहते हैं वे भी अमीरों के समक्ष हीनताबोध से ग्रसित हो असहज हो जाते हैं। बच्चे देश के भविष्य कहे जाते हैं मगर जब बचपन त्रासद है तो भविष्य उज्ज्वल कैसे हो सकता है। गरीबी के कारण सम्बन्धों में निष्ठुरता आती है। पिता बेटे को बलभर पीटता है। 'संवाद' कहानी में उगना नामक दस वर्षीय बालक अपने ही परिजनों के द्वारा चार वर्ष पूर्व ही एक अफसर की सेवा में सुपुर्द कर दिया जाता है। फिर वह बालक या बच्चा नहीं रह जाता, नौकर हो जाता है। बालश्रम कानूनन अपराध है। कानून का पालन करने वाले लोग सरकारी मुलाजिम होते हैं मगर, वे लोग ही अगर कानून की धज्जियाँ उड़ाते हैं तो फिर कौन रक्षा कर सकता है। स्वामी अग्निवेश जैसे लोग बाल-श्रम का विरोध करते रहें, क्या फर्क पड़ता है। वैसे, मालिक नौकर की भावनाओं की परवाह नहीं करता।

नवउदारवाद और भूमण्डलीकरण के कारण अमीर तो और अमीर हुए हैं लेकिन गरीब गरीबी से छुटकारा नहीं पाता। 'लालटेन बाजार' में गाँव से उजड़कर शहर में जीविकोपार्जन के लिए आए एक श्रमिक की ब्यथा-कथा है। कूड़े-कचरे से भरी झोपड़ी में रहते हुए वह अपेक्षित धनार्जन तो नहीं कर पाता, बीमा अवश्य हो जाता है। सेवाटहल के लिए गाँव से आई पत्नी अपने गहने बेचकर औषधि और उधार पर दूध आदि की व्यवस्था करती है पर कितने दिन गुजर बसर होता। वह खून बेचने के लिए तत्पर होता है मगर, रोगग्रस्त होने के कारण उसका रक्त भी नहीं लिया जाता। निराशा

में पत्नी के साथ गाली-गलौज का व्यवहार करता है। प्रेमकुमार प्रेमचन्द के इस विचार से कि अभाव में व्यक्ति संवेदनहीन हो जाता है, सौ फीसदी इत्तफाक नहीं रखते। कफन के घीसू, माधव की संवेदनहीनता तो 'मनुष्यता' के भावबोध पर ही प्रश्नचिह्न लगाती है। जबकि, विपन्नता की कहानी 'जुगाड़' में आख्यक-संकट परिवार के जीवन-रस को सोख नहीं पाता। जिस किसी दिन रसोई की ढंग की व्यवस्था हो गई, सब निहाल हो जाते हैं।

संग्रह की कुछ कहानियों में भारतीय संस्कृति के महानायक नायिका कृष्ण-राधा, राम पर केन्द्रित प्रबन्ध-काव्य 'रामायण' और 'रामचरित मानस' के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास को समकालीन जीवन मूल्यों के जरिए नये ढंग से व्याख्यायित किया गया है। माखमक कहानी 'एक और रामायण' में इस कटु यथार्थ को रेखांकित किया गया है कि आज का दौर अवमूल्यन का है। आम आदमी भौतिकवाद और उपभोक्तावाद के बढ़ते दबाव से पारम्परिक-मूल्यों को स्थगित कर रहा है। भारतीय मूल्य, आदर्श मानसिक-स्तर पर तो प्रभावित करते हैं मगर, उनकी व्यावहारिकता का समीकरण या क्रियाकलाप लगभग विपरीत होता है। मसलन, भ्रातृप्रेम, त्याग और सेवाभाव की कहानी 'रामायण' के प्रसारण (रामानन्द सागर रचित) को देखने की आकुल जिद से पदारथ का पारिवारिक आदर्श टूट जाता है। वह पत्नी के प्रेरित करने पर अपने उस भाई से अपने हिस्से की माँग कर बैठता है जिसने उसे नौकरी के योग्य बनाया। बड़े भाई को ब्याई भैंस बेचनी पड़ती है। उनके बच्चों के मुँह से दूध छीन लिया जाता है। लेकिन, मीना (पदारथ की पत्नी) को खुशी टीबी खरीदने की होती है। बाजार में नित नये आते उत्पाद हमारे जीवन में अनिवार्य बनते जा रहे हैं, नतीजतन, उनका होना आदमी में 'उच्चता-बोध' की कुण्ठा पैदा करता है। और न होना 'हीनता-ग्रन्थि' की। ये उत्पाद मान-अपमान के हेतु भी बन रहे हैं। 'घास के गहने' में प्रेम के उच्चादर्श कृष्ण के प्रति राधा के कई सवाल हैं? कृष्ण की जीवन-यात्रा ब्रज/गोकुल से प्रारम्भ होती है और मथुरा होते हुए द्वारिकापुरी में समाप्त होती है।



राधा-कृष्ण का प्रेम सिर्फ ब्रज/गोकुल का प्रसंग है। मथुरा और द्वारिकापुरी में राधा का प्रवेश नहीं होता। संकेत यह कि प्रेम-भाव सामाजिक-पारिवारिक दबावों से नियन्त्रित होता है और उसका महत्व अवसरानुकूल ही होता है। कला, साहित्य और संगीत में किशोर कृष्ण-राधा का प्रसंग है इसीलिए, राधा के मन में यह कसक पैदा होती है कि वे कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन में प्रवेश क्यों नहीं पाती हैं? 'उस रात की बात में' कवि तुलसीदास के चरखत जीवन-प्रसंग और उनकी छवि को भी जनवादी दृष्टि से व्याख्यायित और विश्लेषित किया गया है। कहानी तुलसी-कथा का नवसृजन है। रत्नावली के धिक्कार-प्रसंग (अस्थि चर्ममय देह मम तामें ऐसी प्रीति...) की नई व्याख्या करते हुए कहानीकार उस ठोस कारण की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करता है और वह है धन। रतना मायके इसलिए जाती है क्योंकि वह 'सोने की लंका' थी। धनाभाव के कारण वह तुलसी का तिरस्कार करती है। रामचरित मानस में वर्णाश्रम व्यवस्था के पोषक प्रतीत होते तुलसीदास को कवितावली में यह छन्द क्यों लिखना पड़ा? "धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोई, काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोई।" कहानीकार की दृष्टि में इसका कारण है नवजात तुलसी का माता-पिता द्वारा त्याग और गरीब औरत के द्वारा

उसका पालन-पोषण होना। निश्चित ही जनता के द्वारा तुलसी की जाति पर प्रश्न-चिह्न लगता रहा होगा। काशी के पण्डितों द्वारा तुलसी भी प्रताड़ित किए गए होंगे। दुखभक्ष और आख्यक-सामाजिक दुरवस्था के प्रति जो चिन्ता इस छन्द में है? "खेती न किसान को, भिखारी न भीख बलि, बनिक को वनिज, न चाकर को चाकरी/जीविकाविहीन लोग सीधमान सोच बस/कहैं एक एकन सों, कहाँ जाई, का करी?" उससे तुलसी का कवि व्यक्तित्व और महान बनता है। कहानीकार का कथ्य यही है कि तुलसी रामकथा के प्रस्तोता ही नहीं, समाज-चिन्तक भी थे। 'रामचरितमानस' के अलावा भी तुलसी के साहित्य महत्त्वपूर्ण है। वे जिन रचनाओं में सीधे जमीन से जुड़े हैं, समाज की बातें करते हैं, उनमें उनकी समाज-दृष्टि अत्यन्त गहन है। उक्त छन्द में तुलसी तत्कालीन राजनीतिक दुश्चिन्ताओं से जिस तरह व्यथित हैं, लगता है वे आज की परिस्थितियों पर ही चिन्ता जाहिर कर रहे हैं। वर्णाश्रम के प्रति अगर निष्ठा दिखाई देती है, उसके पीछे कारण परम्परागत आदर्श और मान्यता ही हो सकती है जो रक्त में प्रवाहित होती है।

संग्रह की कहानियाँ इस विचार को पुष्ट करती हैं कि कहानी 'कला' है। अगर कोई शिल्पी है तो वह साधारण अनुभव को भी कृति बना सकता है। प्रेमकुमार मणि की कहन शैली और अभिव्यक्ति में सहज प्रवाह है। कहानी की आत्मा विषयवस्तु होती है किन्तु, मणि की कहानियाँ अपने कलात्मक आवरण में भी पाठकों को लपेट लेती हैं। कहानीकार प्रत्येक कहानी को नये ढंग से गढ़ने की कोशिश करता है। बौद्धिकता के प्रति व्यामोह होने के बावजूद कुछ कहानियाँ हृदयस्पर्शी हैं।

उपसंहार. प्रेमकुमार मणि, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-110002, मूल्य : 250 रुपये

बी 31/41, ए-एस, भोगावीर, संकटमोचन, वाराणसी-221005 मो

कहानी

उम्मीदें जगाती कहानियाँ

जाहद खान

त

रुण भटनागर नई सदी की पहली दहाई के उन युवा कथाकारों में से एक हैं जिनकी कहानियों ने अल्प समय में ही हिंदी कथा साहित्य में अपनी पहचान बनायी है। 'गुलमहदी की झाड़ियाँ' उनका पहला कहानी संग्रह है। जिसमें कुल जमा 7 कहानियाँ हैं, लेकिन अपनी भाषा, शिल्प, कथ्य, रूप विन्यास के लिहाज से हर एक कहानी दूसरी कहानी से बिल्कुल जुदा है। गोया कि कहीं भी किसी भी कहानी में दोहराव नजर नहीं आता। कथ्य की विविधता, शिल्प की जादूगरी और भाषा की ताजगी कहानी संग्रह को उल्लेखनीय बनाती है। किताब को पढ़ते हुए ऐसा कहीं भी नहीं जान पड़ता कि यह कहानीकार का पहला कहानी संग्रह है। एक मंजे हुए किस्सागो की तरह तरुण भटनागर अपनी कहानियों को जिस तरह पाठकों के सामने पेश करते हैं। पाठक उनके किस्सागोई के मोहपाश से बच नहीं पाते। एक अच्छी कहानी में जो पहला गुण होना बेहद जरूरी है वह है इसकी पठनीयता और कहानी के आखिर तक पाठकों को बाँधे रखना। यह वहाँ बखूबी मिलता है। कथाकार तरुण भटनागर के कहानी संग्रह 'गुलमहदी की झाड़ियाँ' की अधिकांश कहानियाँ यथार्थ की कसौटी पर अपने समय के सच का प्रत्याख्यान करती हैं।

वागर्थ के नवलेखन अंक में प्रकाशित अपनी पहली ही कहानी 'गुलमहदी की झाड़ियाँ' से लेकर कहानी 'हंसोड़ हँसुली' तक उन्होंने एक लम्बा सफर तय किया है। उनकी कहानियाँ उत्तरोत्तर और भी परिपक्व होती चली गयी हैं। संग्रह की पहली कहानी 'हैलियोफोबिक' और अन्तिम कहानी 'हंसोड़

हँसुली' अपनी लम्बाई और व्यापक फलक के चलते औपन्यासिक कहानी है। कथाकार गर इसमें और विस्तार दे पाता तो अपने विषयवस्तु और ट्रीटमेंट के लिहाज से ये कहानियाँ उपन्यास का रूप ले लेंती। बहरहाल, ये समीक्षा का मौजू नहीं है कि ये कहानी हैं, औपन्यासिक कहानी हैं या उपन्यास। समीक्षा का काम है कहानियों को गहरे तक परखना, रचना को साहित्य के आलोचकीय सौन्दर्यशास्त्रा से गुजारना, कहानी में अन्तर्दृष्टि चेतना को पहचानना, पाठकों के सामने लाना और रचना के भीतर जाकर इसका अनुसन्धान करना।

कहानी संग्रह का टाइटल भले ही 'गुलमहदी की झाड़ियाँ' हों लेकिन यह कहानी,

संग्रह की प्रतिनिधि कहानी नहीं है, बल्कि 'हैलियोफोबिक' सही मायने में संग्रह की प्रतिनिधि कहानी है। इस कहानी में वह सब कुछ मौजूद है जो कहानी को मुमकिन बनाता है। वरिष्ठ आलोचक परमानन्द श्रीवास्तव, 'गुलमहदी की झाड़ियाँ' पर सही ही टिप्पणी करते हैं कि "संग्रह कई समयों के द्वन्द्व का रोचक आख्यान है।" हैलियोफोबिक हमें 1988 के काल में ले जाती है जब अफगानिस्तान पर रूस का कब्जा था और तालिबानी लड़ाके रूस से संघर्ष कर रहे थे। लेकिन ये कहानी अफगानिस्तान की होकर भी अफगानिस्तान की नहीं है। बल्कि यह कहानी है उत्तर-पूर्वी पाकिस्तान के एक छोटे से शहर चितराल की। जहाँ अफगानिस्तान से अपनी जान बचाने के लिए भागे शरणार्थी पाकिस्तान में शरणार्थी कैम्पों में पनाह लेते हैं और ये शरणार्थी कैम्प कैसे होते हैं? शरणार्थियों की जिन्दगी इसमें कैसे बसर होती है। गर इन्हें जानना है तो लेखक के अलग-अलग तीन शब्द चित्रों के मार्फत इन्हें अच्छी तरह से जाना जा सकता है। 'कैम्प क्रूर और निर्दयी लोगों की बस्ती था। गरीबी और भुखमरी के कारण पागल और लुटेरे बने निर्मम लोग, जहाँ किसी का मरना खुशी लाता था, लोग हत्या और लूट के लिए हमेशा तैयार रहते थे।"

"पूरा दिन सिर्फ तीन काम। जिन्दा बने रहने के लिए जोरम, जस्ती, खाने की लूट और अक्सर कुछ लोगों की मौत...सिर्फ तीन काम।"

"यहाँ काफी लोग बेनाम हैं। उन्हें नाम देना पड़ता है। पुलिस उनको नम्बर दे देती है, जब बेनामी आते हैं, ज्यादा छोटे बच्चे-बच्चियाँ तब एण्ट्री के समय पुलिस



वाले नम्बर देते हैं। बताते हैं यही शऊर है।”

शरणार्थी कैम्प के इस रूह को हिला देने वाले माहौल में रहता है 336 नम्बर उर्फ खान, जो 3 साल की उम्र में इस कैम्प में आया था। कन्धार के पास एक छोटे से कस्बे खान जाबेह का रहने वाला है। रूसी हमले में वह अपने माँ-बाप को खो चुका है। बचपन में हुए भयानक हादसे का असर खान पर कुछ इस तरह से हुआ है कि वह असामान्य हो गया है। खान को बीमारी है मेंटल डिसऑर्डर। वह प्यूनैटिक पर्सनैलिटी है। साइकाइट्रिक्स में एक बीमारी है जिसमें मरीज को रात के तारों भरे आकाश से डर लगता है जिसे चिकित्सकीय भाषा में सिडरोफोबिया कहा जाता है यही नहीं खान हैलियोफोबिक भी है। उसे दिन के आकाश और सूरज से भी डर लगता है यानि उसे हैलियोफोबिया है।

खान की कहानी के बहाने लेखक युद्ध की विभीषिका को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से दिखाने में कामयाब रहा है। कहानी वाचक के जरिए आगे बढ़ती है। अन्त बड़ा ही माखमक बन पड़ा है। “उस रात मैंने अपनी डायरी में खान की कहानी का अन्तिम भाग लिखा, एक लड़का जिसके लिए आकाश का मतलब है बम गिराते जहाजों का खतरनाक अड्डा, कन्धार के पास की एक खुशमिजाज बस्ती को जलाकर राख करती दिन की तरह चमकीली लाल-पीली लपटें...आकाश का मतलब है बिखरकर कचरा बनते घर, रोते चीखते लोग...उसके लिए आकाश वह है जिसकी वजह से उसकी माँ, उसके अबू और बहनों के अधजले, लटकते, बिखरते, खून से लथपथ और कचरे की तरह फेंके जाते शरीर। उसके लेखे...आकाश खून और बरबादी की वजह है। खान के घर को आकाश ने ही खाक किया था, आकाश ने ही उसे पागल बना दिया है...आकाश से खान को बहुत डर लगता है। मैंने मान लिया खान पागल नहीं है। डॉ. एब्राहिम का डायग्नोसिस, इलाज साइकाइट्रिक्स के स्थापित नियम सब गलत हैं। खान हैलियोफोबिक नहीं है। उस दिन मैंने फिर से मान लिया कि वह पागल नहीं है।”

दरअसल, हैलियोफोबिक सिर्फ खान

की कहानी नहीं है बल्कि हमारे समय का कड़वा सच है जिसे हम चाहकर भी नजरअन्दाज नहीं कर सकते। मध्य पूर्व एशिया में साम्राज्यवादी मुल्कों की नीतियों की वजह से आज ऐसे हालात बने हैं कि ज्यादातर मुल्क आज महज शरणार्थी कैम्प बनकर रह गए हैं। जंग से प्रभावित इन मुल्कों की अवाम किन दुष्कर परिस्थितियों में जी रही है यह कहानी में बखूबी दिखलाया गया है। हैलियोफोबिक अप्रत्यक्ष रूप से जंग की सियासत पर एक क्रिटिक रचती है। कहानी में जिस तरह पाक-अफगानिस्तानी वातावरण की अक्कासी की गई है वह लेखक के गहन शोध कार्य को दर्शाता है, ऐसा लगता है लेखक सारी चीजों से अच्छी तरह से वाकिफ है। शायद यही एक अच्छे लेखक की निशानी भी होती है कि वह ऐसा मंजरनामा पेश करे कि पाठकों को लगे “हाँ ऐसा ही तो है।” हैलियोफोबिक में इस सबके बावजूद जो एक बात खटकती है वह है इस कहानी का काल क्रम, लेखक ने इस कहानी को 1988 तक ही महदूद करके रखा है जबकि इसके बाद अफगानिस्तान-इराक में जो घटा वह पहले से भी कई गुना ज्यादा खतरनाक है। अमेरिकन साम्राजियत का जो नंगा नाच सारी दुनिया ने देखा है उसे भी कहानी का हिस्सा बनाया जा सकता है। बहरहाल, हैलियोफोबिक नायाब कहानी है और अपने कथ्य, विषयवस्तु के लिहाज से हिंदी कथा साहित्य में ऐसी पहली कहानी भी।

जिन्दगी में अभावग्रस्तता कैसे-कैसे मुहावरे गढ़ लेती है। कहानी, ‘गुणा-भाग’ हमें इसका अहसास कराती है। सपेरों की एक बस्ती और एक अलहदा संसार जहाँ साँप की काटे की मौत को सौभाग्य माना जाता है। जहाँ मौत जिन्दगी से बेहतर है और जहाँ जिन्दगी से नहीं मौत से उम्मीदें हैं। जिन्दगी की ऐसी तलख सच्चाइयाँ कहानी ‘गुणा-भाग’ के मार्फत हमारे सामने आती हैं कि दिल रो दे। गुणा-भाग के जरिए कहानीकार तरुण भटनागर हमें सपेरों की अनजानी दुनियाँ में ले जाते हैं। बदलते वक्त के साथ सपेरे आज भी सामंजस्य नहीं बिटा पाए हैं और आज भी उनकी रोजी-रोटी का जरिया पारम्परिक पेशा है, वहीं कुछ रूढ़ियाँ हैं, परम्पराएँ हैं जो उन्हें आज भी इससे बाहर

नहीं निकाल पा रही हैं। हमारी सरकारों का ये हाल है कि मुल्क में ऐसे कई तबके, जातियाँ, जन-जातियाँ हैं जहाँ आज भी स्वशासन नहीं पहुँच पाया है। तालीम-रोजगार के साधन नहीं पहुँच पाए हैं। हाँ मुआवजा जरूरी है जो सरकार होने की याद दिलाता है। सपेरे चम्पालाल का बेटा देव स्कूल जाता है लेकिन पढ़ाई के दौरान भी गुणा-भाग लगाता रहता है। जिन्दगी और मौत का गुणा-भाग। टीचर किरदार राबिन्सन क्रूसो के जरिए जिन्दगी की अहमियत बता रहा है। मगर देव को लगता है टीचर झूठ बोलता है। “लड़के का गुणा-भाग कठिन हो गया। शिव का प्रसाद...साँप देवता...जहर अच्छा है, मरने पर खुशी का गीत...बुजुर्गा की साँप से खुद को डसवाने की कहानी...सरकार के 50 हजार रुपये वह भी सात दिन में...फिर जिन्दा रहना बड़ी बात कैसे? हर जगह मरना अच्छा है, फिर जीना बड़ी बात कैसे...फिर क्या गुणा-भाग ठीक है? ऐसे में गुणा-भाग ठीक कैसे? कतई नहीं...कहीं तो गड़बड़ है। गुणा-भाग गड़बड़ है।” इस कहानी पर भी लेखक ने काफी मेहनत की है। कहानी में जो ब्योरे, जो मंजर पेश किया गया है वह सपेरों की दुनिया को साकार कर देता है। एक ऐसा समाज जो हाशिये पर है। उसकी जिन्दगी को ऐसी बारीकता से देखना वाकई काबिले तारीफ है।

कहानी ‘गुलमेंहदी की झाड़ियाँ’ उन कचरा बीनने वाले हजारों हजार बच्चों की कहानी है जिनका बचपन कचरे का ढेर बन गया है। जिनके सपने कचरे के ढेर में दफन हो गए हैं। एक ऐसी ही कचरा बीनने वाली लड़की के जरिए लेखक ने ऐसे बच्चों की दुनिया में झाँकने की कोशिश की है जिनके सपने मर गए हैं। कहानी में कहानी के टाइटल गुलमेंहदी की झाड़ियाँ का प्रतीकात्मक महत्त्व है। गुलमेंहदी की झाड़ियाँ के प्रतीक के जरिए लेखक उस बचपन को देखता है जो जवान होने से पहले ही बूढ़ा हो जाता है। जहाँ सपने सपने ही रहते हैं, कभी हकीकत में नहीं बदलते। “गुलमेंहदी के छोटे-छोटे फूल, रेल की पटरी और गिट्टी के ढेर के इर्द-गिर्द फैली झाड़ियों पर ठुमक रहे थे, उसे ये फूल अच्छे लगते हैं। एक ही गुच्छे में कई छोटे-छोटे पीले-लाल फूल, पर

इन फूलों को कोई उगाता नहीं है। कोई इनकी माला नहीं बनाता, कोई इन्हें भगवान पर नहीं चढ़ाता, पता नहीं क्यों? उसे समझ नहीं आता पता नहीं क्यों लोग ऐसा करते हैं।" दरअसल गुणा-भाग और गुलमहेंदी की झाड़ियाँ जैसी कहानियाँ उस वर्ग के साथ संवेदना-सहानुभूति के बिना नहीं लिखी जा सकतीं जिस वर्ग की आप कहानी लिख रहे हैं। कहानीकार के पास एक संवेदनशील हृदय है जो हाशिये पर पड़े हुए लोगों के लिए धड़कता है।

बीते शहर से फिर गुजरना, फोटो का सच और कौन-सी मौत कहानियों में लेखक पर 'निर्मलीय प्रभाव' साफ-साफ देखा जा सकता है। ये अलग रंग की कहानियाँ हैं, इन कहानियों में जज्बात तो है, पर रुह नहीं, भावुकता है पर सोहेश्यता नहीं, कहानियों में मानो जज्बात का अन्धड़ है जो कहानी के बाकी तत्त्वों को उड़ा ले गया है। कहानी में पसरी खामोशियाँ उदास करती हैं। कोई उत्साह-उमंग, जीजीविषा-उम्मीद ये कहानियाँ बिल्कुल नहीं जगाती हैं। हाँ भाषाई चमत्कार खूब चमत्कृत करता है। शिल्प के लिहाज से भी ये कहानी अच्छी बनी है। लेकिन सिर्फ भाषा और शिल्प से ही कहानी बड़ी कहानी नहीं बनती बल्कि बड़ी कहानी तब बनती है जब कहानी अपने से ज्यादा-से-ज्यादा लोगों को जोड़ती है और उसका संवेदन क्षेत्र विस्तृत होता है। व्यक्तिवादिता की अन्धी खाई से निकलकर जब कहानी सामाजिकता को छूती है। नोबेल पुरस्कार से सम्मानित रचनाकार प्रेबियल गाखसया मार्खेज का ये कथन लेखक के लिए समीचीन होगा कि "मैं पीड़ित व्यक्तियों की निजी जिन्दगियों की बजाय सामाजिक परिघटना में हमेशा रुचि लेता रहा हूँ। जाहिर है जीवन की सामाजिकता निजता से अधिक बहुआयामी, जटिल एवं वृहत् होती है और इसको साधना खासा कठिन है। बीते हुए शहर से फिर गुजरना, फोटो का सच और कौन-सी मौत तीनों कहानियों के नायक स्मृतियों में ही विचरण करते हैं। जिन्दगी के कठोर यथार्थ से सामना करने का माद्दा उनमें कहीं नहीं दिखाई देता। हालाँकि, कलात्मक स्तर पर ये कहानियाँ बेहतर बन पड़ी हैं। शिल्प की दृष्टि से काफी प्रयोग किए गए हैं। बावजूद इसके लेखक बेलिंस्की के

अल्फाजों में कहें "यदि कोई कलाकृति केवल चित्रण के लिए ही जीवन का चित्रण करती है यदि उसमें वह आत्मगत शक्तिशाली प्रेरणा नहीं है जो युग में व्याप्त भावना से निःसृत होती है। यदि वह पीड़ित हृदय से निकली कराह या चरम उल्लसित हृदय से फूटा गीत नहीं, यदि वह कोई सवाल या किसी सवाल का जवाब नहीं तो वह निर्जीव है।" उम्मीद है कहानीकार तरुण भटनागर आगे अपनी कहानियों में इसका ख्याल रखेंगे और उनकी कहानियों में मौत नहीं जिन्दगी की धड़कनें सुनाई देंगी।

कहानी 'हँसोड़ हँसुली' संग्रह की वह कहानी है जो बरसों में एकाध ही लिखी जाती है, कहानीकार तरुण भटनागर का कहानी कौशल हँसोड़ हँसुली में जमकर सामने आया है। कहानी की किस्सागोई, भाषा और शिल्प अद्भुत है। झारखण्ड के छोटा नागपुर पठार के छोटे-से गाँव लोरमी की ये कहानी मौजूदा गाँव-पंचायत की सियासत पर तीखा कमेंट करती है, यथार्थ और फंतासी के विरल संयोग से कहानी का जो रूप सामने आया है। वह हैरत प्रदान करता है। इस कहानी को पढ़ना यानि कई अनुभवों से होकर गुजरना है। हँसोड़ हँसुली पढ़कर कहीं से भी ऐसा नहीं लगता कि हम किसी नये रचनाकार की प्रारम्भिक कहानी पढ़ रहे हैं। इस कहानी की परिपक्वता हमें खास-तौर पर आकर्षित करती है। बहरहाल, बात कहानी की...लोरमी गाँव के मुखिया बाबूजी सियासत की शतरंज पर किस तरह एक-एक मोहरों को मात देते हुए अपनी बाजी जीतते हैं, यह कहानी का मुख्तसर-सा मौजू है। मगर कहानी को आगे बढ़ाने के लिए इसमें बाबूजी के साथ-साथ बाबूजी का एक मात्रा बेटा बट्टू है जो बाबूजी के शब्दों में शहर में पढ़कर 'कम्यूनिजम का रोग ले आया है। लोरमी का एक मात्रा कम्युनिस्ट बट्टू का दोस्त रामा है जो आदिवासी मिसरी बाई का लड़का है और मिसरी बाई जो 18 साल से लोरमी की चौकीदारी का सपना पाले हुए है। गाँव का पण्डित शास्त्री है जो मिसरी बाई के चुआ यानि पानी के सोते पर कब्जा करना चाहता है और इन सब के अलावा गाँव के भोले-भाले लोग हैं जिन्हें बाबूजी ने हँसी का रोग लगा दिया है पर हँसोड़ों के

लोरमी गाँव को किसी की नजर लग जाती है। फिर एक के बाद एक लोग गायब होते चले जाते हैं। पहले मिसरी बाई, शास्त्री पण्डित, रामा, बाबूजी का कम्युनिस्ट बेटा बट्टू और बट्टू की माँ, पूरा लोरमी लड़ाइयों के आतंक से दहल जाता है, लेकिन इन लड़ाइयों की हकीकत क्या है? कौन है इन सब साजिशों के पीछे? यह सब कहानी पढ़कर ही जाना जा सकता है।

कहानीकार तरुण भटनागर की इस कहानी में कई मोड़ हैं जो पाठकों को अचम्बित करते हैं। कहानी का अन्त क्लासिक है जो अप्रत्याशित है और खूब चौंकाता भी है। "उन लड़ाइयों की कहानी आज सिर्फ बाबूजी जानते हैं। दुनिया में और किसी को यह हकीकत नहीं पता। बाबूजी के साथ ही अंजानी कहानी भी एक दिन गुमनाम हो जाएगी। किसी को पता नहीं चलेगा कि क्या हुआ था? इस कहानी का कुछ नहीं हो सकता है। यह कहानी कहीं नहीं जा सकती है। कुछ कहानियाँ बिना किसी को पता चले खत्म होती हैं। यह वैसी ही कहानी है। इसलिए शुरु में बता दिया गया है कि यह एक झूठी कहानी है। इस कहानी को न तो किसी ने किसी को बताया और न कभी बताएगा। इस कहानी का होना, इसका पता चलना नहीं है। बाबूजी कभी नहीं कहेंगे। ये कहानी कभी भी किसी को पता नहीं चल सकती।"

अपनी कहानियों में तरुण भटनागर शब्दों के साथ खूब खिलवाड़ करते हैं। कहानी का नेरेशन कई बार कविता की तरह लयबद्ध होता है। शायद वह इसलिए कि वे एक कवि भी हैं और बहुत कम लोगों को इस बात का इल्म होगा कि उनकी शुरुआत कविता से ही हुई थी। आज उनका कवि कहानीकार से काफी पीछे छूट गया है। लेकिन कहानी की भाषा में अन्दर से ये कवि बार-बार हिलोरे लेता है। इसकी कुछ बानगी देखिए "वह नहीं होती तो यह बीता हुआ शहर होता, उन बीते शहरों में से एक, जहाँ जाने का कोई कारण नहीं बचा है, ऐसे बहुत से शहर हैं जो बीत गए, जहाँ जाना समय को देखना है, जहाँ जाकर कुछ नहीं हो सकता, पर वह भी और आज यूँ यह शहर पूरी तरह से बीत नहीं पाया है। उसके होने के कारण यह

शहर मर नहीं पाया है। लगता है कुछ रह गया है, कुछ रह गया है बीतने से, कुछ रह गया है इसे पूरी तरह से बेजान बनाने से, यह शहर अभी खोया नहीं है। इस शहर को अभी गुम होना है। उसने अभी इसे गुमने नहीं दिया है।” (बीते शहर से फिर गुजरना)

“झारखण्ड में छोटा नागपुर पठार की राजमहल पहाड़ियाँ, राजमहल का ही एक चौरस, मीलों लम्बा काला चट्टानी पहाड़, चितगुनिया पहाड़, चितगुनिया की तलहटी पर बलारी नदी और काँकर घाट, काँकर घाट से लगा मकौड़े की बौनी झाड़ियों वाला लहरिया मैदान, तूँद, बीजा, साल और महुआ के छितरे जंगल, दूर अनजान जगहों को जाते धुलहे रास्ते। छोटे आड़े-टेड़े खेतों में ज्वार, मकई और गेहूँ के सूखते पीलिया खेत, खेतों में कहीं दूर-दूर बाँस-फूस की मचानें, किसी मचान में कोई अकेला गँवई किसान, तो कोई किरति रेडियो से सुनता-सुनाता, एक से काक भगाऊ और एक से कौए। सबके लिए सम्पे से एक-सी अँगार झॉकती धूप, मिट्टी, गोबर और गेरुए की एक-सी कड़वी गन्ध वाली दीवारों पर लुढ़की एक-सी गँवड़ी खपरीली छतें। ढेकी और हालर की एक-सी किडर-किडर। एक-सी आड़ी-टेढ़ी जोंक-सी खेतों की मेड़, एक-से कुएँ एक-सी कुडि, डबरा-डबरी..एक-सी कुओं की पार.. एक-सी लोहे की किरस-खिडर घिरियाँ, एक-से यतीम खलिहान, और...और बस शकलों से अलग चेहरे, गाँव का नाम लोरमी, गाँव के मुखिया बाबूजी, बाबूजी का लोरमी।” (हँसोड़-हँसुली)

कुल मिलाकर कहानीकार तरुण भटनागर का पहला ही कहानी संग्रह गुलमँहदी की झाड़ियाँ पाठकों में आगे के लिए खूब उम्मीदें जगाता है। ये आश्वस्त प्रदान करता है कि ऐसी और भी कई कहानी उनकी कलम से निकलेंगी जो पाठकों को बिल्कुल नई दुनिया से रू-ब-रू कराएँगी, जाहिर है तरुण भटनागर के दूसरे कहानी संग्रह का इन्तजार रहेगा।

गुलमँहदी की झाड़ियाँ, तरुण भटनागर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, मूल्य : 120

महल कॉलोनी, शिवपुरी (म.प्र.) मो. 96254-89944

क ह ा न ी

छटपटाहट, संघर्ष और बाईपास की कहानियाँ

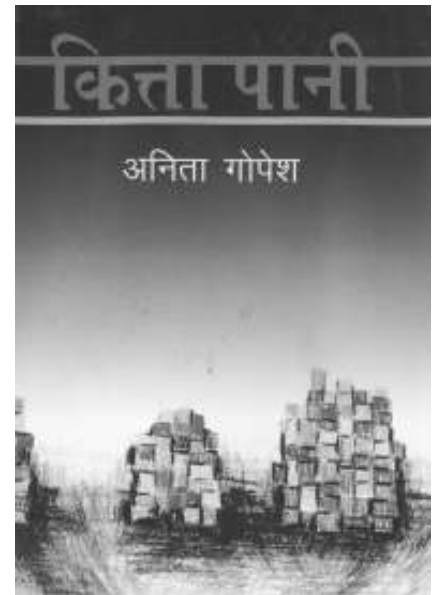
रश्मि मालवीय

अ

निता गोपेश का कहानी संग्रह 'किता पानी' उनकी 19 कहानियों का संग्रह है, जो कि जीवन के विविध अनुभवों की कहानियाँ हैं, विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करती हुई। लगभग सभी कहानियाँ मानवीय सम्बन्धों की ऊष्मा को तलाशती कहानियाँ हैं। पात्रा बहुत ही नेचुरल हैं और जैसा कि वास्तविक जिन्दगी में होता है, अच्छाइयों और बुराइयों दोनों से भरे-पूरे हैं इसलिए वे हमारे बीच के लगते हैं। रोजमर्रा के जीवन की घटनाओं से सहज निष्कर्ष निकालती सुख-दुख से भरी कहानियों में बड़ी सहजता, अपनापन और जीवंतता है। कहानियों के ज्यादातर पात्रा हमें अपने नित जीवन में आस-पड़ोस, रिश्ते-नातों, घर-परिवार में देखने-सुनने को मिल जाते हैं। कहानियों में स्त्री-पुरुष के बीच नये सम्मानजनक, मधुर मानवीय रिश्तों की तलाश की छटपटाहट दिखाई पड़ती है। अधिकतर स्त्री पात्रा अलग-अलग स्थितियों-परिस्थितियों में अलग-अलग मोर्चे पर संघर्ष करती अकेली है। चाहे वो शुभा हो, उत्पला हो, कस्बेनुमा शहर की बोल्ड दिव्या हो, विधु हो या फिर पुरुष प्रधान समाज से विद्रोहस्वरूप नये रिश्ते बनाती स्वाति या नन्दिनी हो या 'एवरीथिंग राइट नाउ' के निर्मम प्रहार से जूझती और तोड़ती जया हो या एहसासों का अनाम रिश्ता मामुनी बनाती हो या फिर ससुराल वालों से प्रताड़ित मीनल और उसकी बुआ हो।

अनिता बड़ी सहजता से एक तरफ तो निर्जीव और ऊष्मा रहित (टण्डे पड़ते) पारिवारिक रिश्तों की शिनाख्त करती हैं और दूसरी तरफ नये प्रकार के निर्मल रिश्तों को, जो कि भावनाओं एहसासों की गर्माहट, मानवीय संवेदनाओं से भरे-पूरे हैं, बहुत ही सुन्दर ढंग

से गढ़ती हैं। 'आईना' कहानी का 'गूंगा रिक्शेवाला खुशीद का जीवन-संघर्ष अविराम गति से चलता जाता है, बिना हार माने। 'लाइफलाइन' में 80 वर्ष के भरे-पूरे सम्पन्न घर के बाबूजी को सिस्टर मोहिनी की डॉट, आत्मीयता, भावनात्मक गर्माहट, लाड़-दुलार और अपने ऊपर किसी के अधिकार का बोध कराती हैं, जिसके अभाव में सब कुछ होते हुए भी आदमी नितान्त अकेला हो जाता है। 'पहला प्यार' कहानी की 13-14 साल की किरण घर के सारे काम को सम्भालते हुए गुड्डा के जन्म लेने पर 'गुड्डा' की जिम्मेदारी भी बड़े प्यार और जतन से सम्भाल लेती है और उस पर जान छिड़कने लगती है। गुड्डा भी किरण के बिना नहीं रह सकता। किरण का गुड्डा के प्रति समर्पण किसी भी पेट जाये बच्चे से कम नहीं है। ये उसकी कैरियर बनाने में व्यस्त डॉक्टर माँ के लिए ईर्ष्या का विषय भी है और उसके मातृत्व को आहत भी करता है। बकौल लेखिका "रेखा से गुड्डा डरता और किरण से



सुरक्षा पाता हर तरह की। किरण में एक बच्ची और माँ एक साथ थी, बच्ची उसे सखा भाव देती और माँ देती सुरक्षा।" लेकिन रेखा उसे किसी भी तरह से एक नौकरानी से ज्यादा का दर्जा देने को तैयार नहीं है। लेखिका की दृष्टि वर्ग-भेद पर भी है, जो कितना अमानवीय है। किरण गुड्डा के लिए 100 रुपये का नागरा लाती है उसके जन्मदिन पर। इस प्रसंग का चित्रण द्रष्टव्य है।

रेखा ने किरण के सामने सौ रुपये का नोट रख दिया। किरण ने पूछा।

'किस चीज का भाभी?'

'ये जूते का पैसा ले लो...।

किरण रोना रोक नहीं पाई। 'हद करती हैं भाभी...हम क्या गुड्डा को कोई चीज गिफ्ट नहीं दे सकते? क्या मेरा कोई अधिकार नहीं है उस पर?' ... 'अधिकार क्या गिफ्ट देने से ही साबित होता है?' रेखा ने जवाब दिया 'क्यों भाभी, प्यार तो साबित होता है। नहीं होता है तो दीदी ने क्यों गिफ्ट दिया।

'सरोज दीदी से अपनी बराबरी तो करो मत किरण। जरा से प्यार से तुम लोगों की हिम्मत बहुत बढ़ जाती है। अपनी औकात में रहो। पैसा रखो। मेरे पास फिजूल बातों के लिए टाइम नहीं है। और आइन्दा गुड्डा के लिए कुछ भी लाने की जरूरत नहीं है, उसके लिए हम लोग हैं। समझी!'

'समझ गए भाभी' किरण और दुःखी हो आयी, कातर भी। 'अच्छा किया आपने हमारी, औकात भी बता दी...। हमने कभी अपने आपको गुड्डा की नौकरानी नहीं समझा था। ... गुड्डा से प्यार हो गया था, इसलिए जिम्मेदारी उठाई थी हमने।'

'उस जिम्मेदारी का हम तुम्हें पैसा दे रहे हैं। कोई एहसान नहीं कर रही हो तुम।'

'जिन्दगी कसम दर कसम' में बस में चढ़ी स्त्री को छूने, घूरने, दबोचने, अश्लील इशारे करने को सब कोई तैयार है, लेकिन इन सारी गलाजतों में अपनी सीट देकर रक्षा करने वाला 13-14 साल का गरीब-गँवई बच्चा ही मिलता है, जो अपने 6-7 साल के भाई को संगम दिखाने लाया है। स्त्री को वो नरक में गलती से गिरे दो पारिजात की तरह नजर आते हैं। 'देहरी भइल परदेस रे' की परित्यक्ता मीनल और उसकी बूढ़ी परित्यक्ता बुआ एक-दूसरे का सहारा बनती हैं, लेकिन इसका कारण खून का रिश्ता या पारिवारिक रिश्ता न बनकर दर्द का रिश्ता बनता है, जो कि उन्हें

एक-दूसरे के करीब लाता है। 'एक सम्बन्ध अनाम' की मामुनी एक बहुत ही सहज, सुन्दर, भावनात्मक, उदात्त और अपनत्व से भरा रिश्ता बनाती है, मानू के परिवार से खून के रिश्तों, परिवार के रिश्तों से बढ़कर, सभी गलाजतों से ऊपर उठकर।

इन कहानियों की सभी स्त्री पात्रा अकेली हैं और विभिन्न प्रतिकूल स्थितियों में संघर्षरत हैं। इस तरह से यह संग्रह एक अकेली औरत की संघर्ष-गाथा भी बन जाता है। ये सभी औरतें समाज के विभिन्न वर्गों से आती हैं और पुरुष-प्रधान समाज के शोषण से उत्पीड़ित हैं। दुर्गी मजदूरिन है, उत्पला कामकाजी है, दिव्या छोटे शहर की बोल्ल कलाकार है। बड़े शहरों की खुदगर्जी झेलती नन्दिनी और स्वाति हैं। या फिर बस में धक्के खाती अकेली औरत या फिर मध्यवर्गीय झंझटों को अकेले झेलती अविवाहित विधु हैं या अभागी कमली। सभी अपनी स्थितियों से असन्तुष्ट हैं। अपने-अपने स्तर पर स्थितियों से समझौता न करके विद्रोह करती हैं। 'अन्ततः' में दिव्या देवेन्द्र को इनकार कर देती है और चल देती है एक नये सफर पर। जया 'एण्ड एवरीथिंग विल बी ऑल राइट' के शॉक से उबरकर 'प्रदीप इज नो लांगर विद मी' का निर्णय लेती है। मीनल ससुराल के भय को ताक पर रखकर बुआ के साथ झॉसी जाकर नौकरी करने को तैयार हो जाती है। कुसुम हिम्मत करती है 'एक भरपूर उडान भरने की, खुले आकाश के असीम विस्तार में उड़ने के रोमांच और ऊँचाई से गिरकर घायल हो जाने की सम्भावना दोनों का खतरा उठाते हुए' दीपक के साथ निकल जाती है। नन्दिनी और स्वाति पुरुष मोहताजी से विद्रोह करके अपना घर बसाती हैं।

ये विद्रोह, ये सारे संघर्ष निश्चित रूप से सराहनीय भी हैं और अनिता की प्रगतिशील दृष्टि को दर्शाते भी हैं। ये तेवर इनकी कहानियों में एक नई ऊर्जा भरते हैं। इनकी कहानियों को जीवंत बनाते हैं। एक अर्थ देते हैं, लेकिन एक सीमा तक ही। क्योंकि सारे संघर्षों के बाद स्त्रियाँ जो हासिल कर पाती हैं वो उनकी जिन्दगी में चुटकी भर धूप से ज्यादा की अहमियत नहीं रखता है 'उनकी दुनिया' और 'उडान' जैसे विकल्प सिर्फ 'बाईपास' का ही काम करते हैं। न तो किसी भी पात्रा में और न तो लेखिका की दृष्टि में ही इस अन्धेरे साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने की या कुछ नया गढ़ने की ललक या समझदारी दिखाई

पड़ती है। लेखिका स्त्री पात्रों को बोल्ल होने और संघर्ष करने का रास्ता तो दिखाती है लेकिन बिना समस्याओं के मूलभूत कारणों तक पहुँचे। हर पात्रा में अपनी जिन्दगी की तकलीफों से छुटकारे की चिन्ता तो दिखाई पड़ती है, लेकिन जिन स्थितियों और कारणों की वजह से ये अमानवीय स्थितियाँ हैं, उनको बदलने की या खत्म करने की समझदारी और चिन्ता न तो किसी पात्रा में ही दिखाई पड़ती है और न लेखिका में। इसी दृष्टि के अभाव के कारण सारे संघर्ष, सारे नये एडजेस्टमेंट ('उनका घर') के बावजूद निराशा और हताशा के बादल जब-तब घुमड़ते दिखाई पड़ते हैं। 'अन्ततः' में दिव्या सोचती है "पर दूसरी तरफ ये कि कुछ नहीं बदलेगा। विकास की कितनी भी यात्राएँ कर ले, पुरुष रहेगा हमेशा पुरुष और सम्बन्ध रहेगा हमेशा यही" ... ऐसे ही तो होता है, जीवन भर... एक अध्याय बन्द होता है तो दूसरा खुलता है। जीवन में नये अध्याय की शुरुआत होने जा रही है... दुःखी क्यों हो? अब दुःखी नहीं होगी।' 'पहला प्यार' में सरोज किरण के लिए सोचती है "हालाँकि पता है उसे उसके मन में क्या है। अभी तो शुरुआत है जिन्दगी की, जीवनभर मन मारते ही बीतेगा इसका। हथ्र देख तो रही है रोज इस वर्ग की लड़कियों का।" 'उनकी दुनिया' में बात आती है "स्त्री-पुरुष के बीच भी ऐसा ही सामंजस्य हो तो क्या बुरा! पर होता नहीं।" इसीलिए आगे चलकर स्वाति कहती भी है "दीदी बहुत हाथ-पाँव मारने के बाद अब हमने जिन्दगी में 'जब जैसा आए' वैसा स्वीकार करने की आदत डाल ली है। हर अगला दिन हमारे लिए कुछ नया लेकर आता है, जब जैसा होगा वैसा कर लेंगे।" इसी वजह से, ये कहानियाँ इसी समाज व्यवस्था में पैठ बनाने की कहानियाँ बनकर रह जाती हैं, जबकि आज जरूरत एडजस्टमेंट की नहीं, बल्कि सिस्टम में आमूल-चूल परिवर्तन की है। उसी परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था में ही नये मानवीय आधार पर विकसित खुशबूदार रिश्ते सम्भव हैं। उसी में एक अकेली औरत की सुरक्षा और उचित सम्मान सम्भव है।

किता पानी, अनिता गोपेश, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
मूल्य : 140.00 रुपये

38 / 28, अमरनाथ झा मार्ग, इलाहाबाद-211002, फोन : 2468662

साहिर : तिलिस्म रचने वाला शायर

ज्ञानप्रकाश विवेक

सा

हिर यानी जादू! साहिर लुधियानवी की शायरी एक ऐसे जादू का नाम है जो अपने अन्दर गर्क करने और तहलील हो जाने की ताकत रखती है।

साहिर जब कहते हैं तसब्युरात की परछाइयाँ उभरती हैं तो वो सच बयान करते हैं। उनकी शायरी कल्पना का ऐसा आलोक रचती है जो क्रान्तिकारिता और रूमान की दो दुनियाओं से तआरुफ करती है और ख्वाब बुनने के जश्न मनाती है तो ख्वाब टूटने की बेकरारी की गूँज को भी महसूस कराती है। लेकिन साहिर की शायरी की सबसे बड़ी खूबी यह है कि यहाँ उदासियों का भी एक जश्न है। यहाँ बिछुड़ना है। बिछुड़ने का कष्ट है। यहाँ अजनबी हो जाने की अपार वेदना है। लेकिन अजनबी हो जाने का आमन्त्रण भी है। वो जब कहते हैं चलो इक बार फिर से अजनबी बन जाएँ हम दोनों।...तो इस मिसरे में अजनबियत की वेदना बेशक है लेकिन एक बार फिर से, अजनबी हो जाने की दावत भी है। साहिर के एक मिसरे से उनकी शायरी के महीन तन्तुओं को पकड़ना जरूरी हो जाता है। वो जब कहते हैं इक बार फिर से शरीयत यहाँ है। शायरी यहाँ है। यहाँ, दो शब्द, **फिर से** अर्थ से नहीं, कैफिष्यत से तअल्लुक रखते हैं। सिर्फ अजनबी बन जाने में शायर केवल दृश्य तक उपस्थित रहता। लेकिन, इक बार फिर से इस तरह की शायरी सिर्फ साहिर कर सकते थे। पूरी नज्म, जिसमें कुल तीन शेर हैं (तीन कत्आत) जिनमें शिद्दत की बेचैनी है। गाढा दुख और अजनबियत के अनेक मनाजिष! बिछुड़ने से पहले का यह हुस्ने-आखिर है। पूरी नज्म बेहद खूबसूरत है। यहाँ करख्तगी नहीं, कोमल

भावनाओं का तिलिस्म है। गशैरतलब बात यह है कि नज्म में बिछुड़ने और अजनबी हो जाने के बहुत सारे भाव हैं। जो जषहिर हैं। लेकिन नज्म के पसमंजष, प्रेम की प्रबल भावना है। यहाँ अजनबियत के बावजूद दिलकश आत्मीयता है।

यही तसब्युर और तिलिस्म साहिर की शायरी का गुण है और बहुत बड़ी पहचान भी। उनकी शायरी में प्रेम के टूटने के बहुत सारे दृश्य हैं। लेकिन टूटते हुए लम्हों की गूँज, खत्म नहीं होती, पीछा करती है। एक शेर में वो कहते हैं

गर जिन्दगी में मिल गए फिर इत्तेफषक से
पूछेंगे अपना हाल तेरी बेबसी से हम
गशलब का एक शेर है

मत पूछ के क्या हाल है मेरा तेरे आगे
आ देख के क्या रंग है तेरा मेरे पीछे

दोनों अशआर में कमोबेश एक जैसी कैफिष्यत है। अपने दिल की बेचैनी और



अवसाद को अपने आत्मीय के दिल में महसूस करना, यही प्रेम की प्रबल भावना है।

यही प्रेम की प्रबल भावना साहिर की शुरुआती शायरी में नुमांया होती है और आखिर तक इसी भावना का दीदार होता है। लेकिन गशैरतलब बात यह है कि युवा अवस्था में प्रेम की इन्तहा है लेकिन उससे बढ़कर क्रान्तिकारी जज्बा है। उनकी शायरी में प्रगतिशील सोच और साम्राज्यवाद का प्रतिवाद, तल्खी और तीखेपन के साथ होता है। इसके बावजूद, साहिर, शायरी की हदें पार नहीं करते। वो अशआर को 'नारा' नहीं होने देते। यानी, शोषण, खूरेजष, जंग, साम्प्रदायिकता, फिषकापरस्ती, उपनिवेशवाद का बड़ी कटुता से विरोध है, लेकिन लहजष मुँहफट नहीं होता। शायरी का मेयार बना रहता है। और शायरी का कलात्मक रूप, पूरी धज के साथ बरकरार रहता है। वो देशभक्ति के प्रति सचेत थे तो शायरी के प्रति उतने एकाग्र भी थे। उनकी शायरी का कलात्मक रूप हर कहीं है। परछाइयाँ जैसी तवील नज्म में भी, जहाँ जंग की पुरजषेर मुखालफत है। 'परछाइयाँ' नज्म, साहिर की शायरी का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस लम्बी नज्म में जब दृश्य बदलते हैं तो बहर भी बदल जाती है। यह एक ऐसा प्रयोग है जो न सिर्फ संशिलष्ट है बल्कि रंगमंचीय प्रभाव भी छोड़ता है। नज्म में जंग मुख्य विषय है। लेकिन नज्म का दायरा बेहद वसीह हो जाता है। जंग होती है तो हर शय तहस-नहस हो जाती है यहाँ तक कि प्रेम भी। नज्म की शुरुआत एक मिसरे से होती है तसब्युरात (कल्पनाशीलता) की परछाइयाँ उभरती हैं। लेकिन वो परछाइयाँ कितने भेस बदलती चली जाती हैं।

मैं फूल टॉक रहा हूँ तुम्हारे जूड़े में

तुम्हारी आँख मसरत से झुकती जाती है। उपरोक्त शेर नज्म का आरम्भ है। यहाँ मोहब्बत करने वालों का संसार है—रुमान में डूबा। लेकिन जंग आलूद माहौल और जंग के बाद का सूरते—हाल कितना डरावना हो जाता है।

तुम आ रही हो सरेआम बाल बिखराए हुए हजषर गोना मलामत का बार उठाए हुए इस तवील नज्म में जंग के प्रति घृणा के भाव हैं। जंग विनाश के सिवा कुछ भी नहीं देती। साहिर एक अन्य नज्म में बड़ी बेचैनी से कहते हैं—ये किसका लहू है, कौन मरा? बेवजह की खूरेजी (रक्तपात) से वो भयभीत नजष आते हैं। परछाइयाँ नज्म में जंग की विनाशलीला है लेकिन अन्त में साहिर, हिन्दुस्तानी तहजषिब और संस्कृति की नुमांया आवाज बन जाते हैं, जब वो कहते हैं—

हमें किसी की जर्षी छीनने का शौक नहीं हमें तो अपनी जर्षी पर हलों की हाजत है साहिर लुधियानवी की शायरी में जिष्दगी की उपस्थिति है। पूरी शायरी में एक जज्बा है—मोहब्बत का जज्बा। इस जज्बे में सम्बन्धों के बिखरने के भी संकेत हैं। वहाँ टूटते हुए लम्हों की उदास धनियाँ सुनाई देती हैं। लेकिन जिष्दगी का खैरमकदम पूरी शायरी में है। जब वो कहते हैं—

मैं हर इक पल का शायर हूँ
हर एक पल मेरी कहानी है

ये अमरता शायर की बेशक न हो, शायरी की जफूर है। यह बयान कि, 'हर एक पल मेरी कहानी है—यह कहानी, पूरे संसार की या कहें कि मनुष्यता की कहानी है। यही शायर की आवाज अवाम की आवाज बन जाती है।

फैज अहमद फैज, साहिर लुधियानवी और मोइउद्दीन मखदूम, उर्दू के तीनों शायरों ने प्रगतिशील सोच के जषरे अपनी शायरी को अवाम की आवाज में बदल दिया। तीनों शायर सियासत की मुखालफत करते हैं। शोषण के विरुद्ध आवाज उठाते हैं और प्रेम को भी नष्ट नहीं होने देते। हैरान करने वाली बात है कि तीनों शायरों की शायरी में अगर बागिश्याना तेवर हैं तो मोहब्बत की कशिश भरी शायरी भी है।

साहिर की शायरी का दायरा इसलिए ज्ययादा व्यापक होता चला गया कि उन्होंने

फिल्मों के लिए भी खूब लिखा। लेकिन उनका फिल्मी लेखन भी इल्मी लेखन रहा। शायरी को उन्होंने आसान जफूर बनाया लेकिन शायरी को हल्का नहीं होने दिया। गशैरतलब है कि गहराई के साथ, आसान शायरी लिखना ज्ययादा मुश्किल होता है। साहिर की आसान शायरी, मुश्किल शायरी है। इसलिए कि यह शायरी जितनी बाहरी दुनिया (समाज) की है उतनी अन्तर्मन की भी है। इसलिए यह शायरी आसान से आसानतर होने के बावजूद, सपाट नहीं होती। साहिर अल्फषज की अहमियत को जानते थे। वो लपषजष के भीतर की लय, अर्थ और खामोशी को पहचाने थे। यही वजह है कि उनकी शायरी में शब्द बड़ी युक्ति और गरिमा के साथ इस्तेमाल हुए। साहिर की शायरी इसलिए भी बड़ी शायरी है कि वह अपने अनुपम रूप में उपस्थित है। नज्मों और गश्जषों में मिसरे खर्च नहीं हुए। वो इस शऊर, एहतियात और रागात्मकता के साथ, अनुभवों तक पहुँचे कि शायरी के सरोकार मानीखेज होते चले गए। साहिर की शायरी का क्रान्तिकारी जज्बा अगर मन में ताप पैदा करता है तो उनकी रुमानी शायरी विस्मित करती है। चित्रालेखा फिल्म की गश्जष जिसमें कुल चार शेर हैं (जिसे बड़ी बेकरारी और बेकसी से गाया गया है) चारों अश्आर में—पाप पुण्य, भोग—विलास, तपस्या और त्याग, धर्म—अधर्म—इन तत्त्वों का फलसफष है और इतनी सहजता से!

ये भोग भी एक तपस्या है तुम त्याग के मारे क्या जानो

ऐसे फलसफष पर कोई 'ज्ञानी' किताबें भर देता। साहिर की शायरी का कमाल है कि चार शेर में सारी फिल्लासफष बयान!

साहिर की शायरी के इतने 'मूड्स' और इतने शेड्स हैं कि हतप्रभ हो जाना पड़ता है। दर्द की इंतहा इतनी कि—लो आज हमने तोड़ दिया रिश्ता—ए—उम्मीद—जैसी बेकरारी और हताशा। फषकड़पन इतना कि—बरबादियों का जश्न मनाता चला गया जैसी बेफिफ्र सोच! नश्वरता के प्रति इतनी सजगता कि—एक पल की पलक पर है, ठहरी हुई ये दुनिया—जैसी अभिव्यक्ति। इन सबके बावजूद दुखों, उदासियों, तकलीफष, मुहब्बत में नाकामियों और सामाजिक असमानता और शोषण के बावजूद, साहिर कहते हैं—वो सुबह कभी तो आएगी!

साहिर की ऐसी लाजवाब और सम्मोहन पैदा करने वाली शायरी अलग—अलग किताबों में बिखरी हुई थी। किताबें भी बहुत अरसा पहले प्रकाशित हुईं जो लगभग दुर्लभ हो चुकी थीं। इस शायरी को इकट्ठा करने का खुशखाल, हिंदी के तीन तरक्कीपसन्द रचनाकारों का है—मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, कान्तिमोहन सोज तथा रेखा अवरथी। हमें तीनों सम्पादकों (उस संचयन के सम्पादकों) का इस्तकबाल करना चाहिए उनकी कोशिशों से तथा गहरे जज्बे से, साहिर लुधियानवी की शायरी का संचयन—जाग उठे ख़ाब कई—हिंदी जगत में पहुँच सका है।

इस किताब—जाग उठे ख़ाब कई की प्रस्तावना गुलजषर ने लिखी है। गुलजार लिखते हैं—'साहिर लुधियानवी का दायरा बहुत बड़ा है। ये पहली बार हुआ था कि शायर ने फिल्म मीडियम को अपनाया, बल्कि मीडियम ने शायर को अपना लिया। वो जैसा लिखता था वो वैसा ही रहा।'

इस किताब की लम्बी भूमिका मुरली मनोहर प्रसाद सिंह की है। यह भूमिका एक तर्जुबेकार अदीब की है जो साहिर और उसकी शायरी पर गहराई से तबसरा करती है।

इस किताब में तल्लियाँ, परछाइयाँ, गाता जाए बंजारा तथा आओ कि कोई ख़ाब बुनें—चार किताबों की रचनाएँ शामिल की गई हैं। तल्लियाँ 1949 में (लाहौर में) प्रकाशित हुईं तथा 1955 में परछाइयाँ प्रकाशित हुईं। दोनों किताबें पहले उर्दू में छपीं और बहुत बाद में हिंदी में। शायरी की दोनों किताबों ने साहिर को बड़े शायर के रूप में प्रतिष्ठित किया। 1957 में गाता जाए बंजारा तथा 1971 में आओ कि कोई ख़ाब बुनें—फिल्मी गीतों के संग्रह प्रकाशित हुए। शायरी की चार अहम किताबों का सरमाया देकर, साहिर 1980 में इस संसार से विदा हो गए।

लेकिन अपने पीछे वो इस शायरी को छोड़ गए जिसे हम शायद ही भुला पाएँ। साहिर की शायरी की विशिष्टता यह है कि वो सर्वकालिक है। साहिर की शायरी को पढ़ते हुए यूँ महसूस होता है जैसे उस शायरी को हम पढ़ रहे हों और जी भी रहे हों।

अक्सर देखा गया है कि उर्दू शायरी में प्रकृति का भाव जहाँ कहीं आता है, शायरी कमजषर पड़ने लगती है। लेकिन साहिर की

यही तो सिफ़्त है वो जब—जब पर्वत, नदियाँ, हवाएँ, झरने, वादियाँ, दरख्त, आसमान या नीले गगन जैसे प्रकृति के तत्त्वों को अपनी शायरी में शामिल करते हैं तो एक विराट, दिलकश और दिलफ़रेब मंजूर उपस्थित होने लगता है। यथा—नीले गगन के तले/धरती का प्यार पले।...रात भी है कुछ भीगी-भीगी/चौद भी है कुछ मद्धम-मद्धम।...खामोशियों की सदाएँ बुला रही हैं तुम्हें।...एक धुन्ध से आना है। एक धुन्ध से जाना है।...ये परबतों के दायरे/ये शाम का धुआँ। कश्ती का खामोश सफ़र है/शाम भी है तन्हाई भी/दूर किनारे पर बजती है/लहरों की शहनाई भी।

साहिर प्रेम और प्रकृति तथा मन की भावनाओं के बड़े शायर थे। उनकी प्रत्येक रचना में कुछ है जो जषहिर है कुछ है जो बातिन (छुपा हुआ) है। उनकी शायरी जीवन के हर क्षण और हर कोने तथा हर खिंचे की शायरी है। उनकी शायरी में इंकलाबी जज़्बा है तो प्रेम की सूक्ष्म अनुभूतियाँ भी। एक तरफ़ वो कहते हैं—एक शहशाह ने दौलत का सहारा लेकर/हम गश्तीबोंकी मुहब्बत का उड़या है मजषक!...लेकिन इस तड़प और खलिश और सत्ता विरोध के बावजूद प्रेम की प्रबल भावना खत्म नहीं होती और शायर बड़े जज़्बाती लहजों में कहता है—मेरी महबूब कहीं और मिलाकर मुझसे। लेकिन एक जगह वो कहते हैं—तुम वही संगेमरमर की तरवीर हो।...यह प्रयोग चौकाने वाला है। संगेमरमर की तरवीर? लेकिन ऐसे प्रयोग के बावजूद, पूरे नग्मे में एक कैफ़ियत पैदा होती है जैसे प्रेम की अनुभूतियों की गूँज! यही गूँज साहिर की शायरी की गूँज है जो “हर इक पल के शाइर” के अन्तर्मन से निकलती प्रतीत होती है।

साहिर तमाम उम्र ख्वाब बुनते रहे। साहिर की शायरी, जिन्दगी की ख्वाबीरा बस्ती की तरह है। एक ऐसा सरमाया, जिसे हम कभी नहीं खोना चाहेंगे।

जाग उठे ख्वाब कई, साहिर लुधियानवी, सम्पादक—मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, कान्तिमोहन सोज़, रेखा अवस्थी, पेंगुइन बुक्स, यात्रा बुक्स, 11, कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, नई दिल्ली, मूल्य : 175.00 रुपये

ज्ञानप्रकाश विवेक, 1875 सेक्टर-6, बहादुरगढ़-124507, घर-09813491654

क वित्त

इतिहास और वर्तमान से आँख मिलाती कविता

प्रियदर्शन

पं कज राग ने अपनी कविता का एक मुहावरा बनाया है—इस मुहावरे में अतीत और वर्तमान, इतिहास और समाज एक-दूसरे के बरक्स खड़े दिखते हैं, कभी एक-दूसरे को काटते, कभी एक-दूसरे को सहारा देते और भरोसा दिलाते। कविता न उस इतिहास में है न इस समाज में, बल्कि दोनों के मेल से बनने वाली उस अदृश्य अनुगूँज में है, जिसे हम समय कहते हैं। पंकज इस समय को सम्भव करते हैं, समय उनकी कविता को सम्भव करता है।

जहाँ—जहाँ यह समय है, जहाँ—जहाँ इतिहास से आँखें मिलाता वर्तमान है, वहाँ—वहाँ पंकज एक छू लेने वाली कविता रच लेते हैं। उनके काव्य संग्रह ‘यह भूमण्डल की रात है’ की कई कविताएँ इतिहास और वर्तमान की इस आवाजाही से बनी हैं। सर्वाधिक उल्लेखनीय ‘दिल्ली : शहर दर शहर’ नाम की कविता शृंखला है जिसमें सिर्फ दिल्ली का इतिहास नहीं, तहजिब का एक बहुरेखीय, बहुकोणीय, अपने चरित्रा में मूलतः बहुलतावादी संसार भी है। यह संसार सिर्फ एक शहर की साँस से नहीं, सभ्यता की धुकधुकी से बना है। इस कविता में लगातार बदलती दिल्ली भी दिखती है और न बदलने पर अड़ी दिल्ली भी। एक तरफ वह सत्ता का केन्द्र है, दूसरी तरफ सत्ता से बेपरवाह है। कविता से गुजरते हुए हम दिल्ली के बदलते भूगोल से भी गुजरते हैं और बदलते इतिहास से भी—दरअसल पंकज राग के काव्य कर्म और काव्य मर्म को समझने की सबसे ज्यादा कुंजियाँ यही कविता देती है।

यह कविता बताती है कि पंकज इतिहास के बहुत बारीक अध्येता हैं। लेकिन

इतिहास उनके लिए विजेता और विजीत का नियतिवादी लगता एकसैखिक अनुक्रम नहीं है, न ही अलग-अलग ब्याख्याओं का स्थिर चौखटा। पंकज इतिहास में दाखिल होकर उसे जैसे उलटते-पुलटते हैं, उसको घट रहे वर्तमान की निरंतरता में देखते हैं, उसमें निहित मानवीय संकटों को पढ़ते हैं और उससे जुड़े साम्राज्यवादी आशयों की अचूक पड़ताल करते हैं। हालाँकि इतिहास की महीन चीरफाड़ में लगे रहने के बावजूद पंकज कविता को कभी ओझल होने नहीं देते। ‘दिल्ली शहर दर शहर’ कविता की शक्ल में इतिहास का प्रक्षेपण नहीं है, वह एक मुकम्मिल कविता है जिसे पढ़ते हुए इतिहास की विडम्बनाएँ और सभ्यता की त्रासदियाँ बार-बार याद आती हैं—बनती और उजड़ती, बनाई जाती और उजाड़ी जाती सभ्यताओं के किन्हीं अमूर्त आशयों में नहीं, ठेठ इतिहास-बोध के साथ, ऐतिहासिक शक्तियों की पहचान के साथ।



चाहिए/थोड़ी नींद चाहिए/और छोटे-छोटे सपने चाहिए/जिसमें विश्व नहीं/उनकी ही कदकाठी की/उनकी ही जुबान बोलती/सीधी सादी सच्ची आँखों वाली शरीके हाल-सी दिल्ली हो।

संग्रह की किसी एक कविता पर इतनी बड़ी चर्चा बाकी संग्रह के साथ अन्याय लग सकती है, लेकिन है नहीं। क्योंकि यह कविता पूरे संग्रह में केन्द्रीय जगह घेरती है और इसके सहारे पंकज की कविता के औजारों को समझना आसान हो जाता है। पहली बात यही समझ में आती है कि पंकज आसान कवि नहीं हैं। उनकी अपनी जटिलता है जो कविता के लिए एकाधिक पाठों की माँग करती है। 'दिल्ली : शहर दर शहर' जैसी बड़ी कविता के सन्दर्भ में तो ऐसे पाठ और जरूरी, दुरुह और एक स्तर पर प्रीतिकर भी हो उठते हैं। कविता को अन्तिम तौर पर समझने के किसी दावे को उनकी कविता चुनौती देती है।

जिस कविता से संग्रह का शीर्षक बना है, वह पहली कविता 'यह भूमण्डल की रात है', भी इसी गढ़न की कविता है। हालाँकि अपनी प्रविधि में कहीं ज्यादा प्रत्यक्ष लेकिन अपने आशयों में उतनी ही अर्थगुणित। यह अलग बात है कि यह कविता वह व्यापक असर, वह बड़ी अनुगूँज पैदा नहीं कर पाती जो पंकज की कई दूसरी कविताएँ करती हैं।

समय और इतिहास से मुठभेड़ करती, इस संग्रह की तीसरी महत्वपूर्ण कविता, संग्रह के बिल्कुल आखिर में है। '1857 में डेढ़ सौवें वर्ष में'। इतिहास के यान्त्रिक और इकहरे पाठ से और उससे ज्यादा उसके उपयोगितावादी इस्तेमाल से 1857 को बचाते हुए पंकज एक के बाद एक उसकी परतें खोलते चले जाते हैं। इसलिए नहीं कि वे पाठक को इतिहास पढ़ाना चाहते हैं या 1857 के मूल अर्थ से परिचित कराना चाहते हैं और या उसमें निहित बहुलार्थता को सामने लाना चाहते हैं, बल्कि इसलिए कि वे एक ऐसी कविता रचना चाहते हैं जिसमें इतिहास और समय की किसी अन्तिम ठहराई जाने वाली व्याख्या के इकहरेपन को पढ़ा जा सके और उसके कई पाठ सम्भव किए जा सकें। उनको पाठ भी जिनकी आवाजें धुंधली पड़ चुकी हैं या जिनके पास 'अपनी भावनाओं को इतिहास में शामिल कराने की ताकत'

नहीं थी। उन जैसा कवि ही लिख सकता है : 'गौर करें तो 1857 के दुखों की कहानी बहुत बड़ी है। गरीबी के दुख, अमीरी के दुख/सचमुच के दुख, कुछ पाले हुए दुख/सच्ची भूख से व्याकुल दुख/झूठी शान से परेशान दुख/वह कई दुखों को जोड़कर लड़ी गई एक लड़ाई थी/तो वह कुछ दुखों को छोड़कर भी लड़ी गई एक लड़ाई थी। कमजोर जोड़ों को बाँधता एक दुश्मन था/कुछ दुख इसलिए नहीं बीते कि दुश्मन शक्तिशाली था/और कुछ दुख जैसे कभी बीतते नहीं/फिर भी लड़े क्योंकि उम्मीद जिंदा थी।'

इतिहास के मिट्टी-गारे से बनी दो और कविताएँ इस संग्रह में उल्लेखनीय हैं। बड़ी-सी दिल्ली के बरक्स छोटा-सा 'बुरहानपुर' वाकई बड़े करीने से लिखी गई कविता है जिसके वर्तमान का कोलाहल इतिहास की कई अनुगूँजों को समेटे हुए है। पंकज राग के शिल्प का सधाव इस कविता में अपनी श्रेष्ठतम भंगिमा में है। दूसरी कविता : 'मियां ही जानें' है जिसमें मियां फख्रुद्दीन के बहाने नये जमाने के रंजोगम और गुजिस्ता दौर की यादों के बीच बदलते शहर और समय की धूल की सहज पहचान सम्भव होती है।

इन कविताओं से अलग पंकज की बहुत सारी दूसरी कविताएँ रोजभर की आवाजाही के बीच बनी हैं। छोटे-छोटे ब्योरों और आशयों को तलाशती ऐसी कई कविताएँ हैं जो बरबस ध्यान खींचती हैं। हालाँकि इन कविताओं में भी अपनी तरह की जटिलता है। 'दिन' नाम की एक कविता अच्छी लगती है। सवाल है, क्यों अच्छी लगती है? कवि कशमकश में है। कि क्षणों में जिया जाए या समय को तोड़-ताड़कर पहले से तय कर लिया जाए कि दिन कैसा बीतेगा। इसके बाद शुरू होता है सवाल का सिलसिला। कवि कहीं जवाब नहीं देता, लेकिन कविता बिना कुछ कहे बता जाती है कि एक दिन में क्या-क्या शामिल होता चलता है, एक दिन कितनी यादों से लबरेज हो सकता है, एक दिन कितनी जरूरतों कितने अकेलेपन, कितनी सामूहिकताओं, कितनी रसोइयों, कितनी गृहस्थियों, कितनी चिन्ताओं और कितनी परछाइयों से गुजर सकता है। या शायद कविता बताती ही नहीं, बस वह एक उड़ान भरती है और उसके साथ हम हो लेते हैं।

इसी उड़ान का एक अलग आस्वाद 'पत्नी' शीर्षक कविता सुलभ कराती है। सरल पाठ बता सकता है कि एक पत्नी की जिन्दगी में कितनी व्यस्तताएँ होती हैं, कैसे उससे घर-परिवार और जीवन बनता है, लेकिन कविता इस सरल पाठ के लिए नहीं बनी है। पूरी कविता में एक ऐसी सक्रियता, ऐसी गतिशीलता है, ऐसा स्पन्दन है जो सबकुछ जगमग कर दे रहा है, और इस जगमग के बावजूद वह उजली और सादी मनुष्यता कहीं ओझल नहीं होती जो इसे एक बड़ी कविता में बदलती है।

इसी तरह कदम रोक लेने वाली एक और कविता है 'गली', जो हरे दुपट्टे वाली एक लड़की के गुजरने से अचानक कुछ की कुछ हो जाती है। शोहदों, नमाजिष्यों और चन्दनधारियों को एक कर देने वाली यह कविता भी अपने साथ व्याख्या की चुनौतियाँ लेकर चलती है। यह अलग बात है कि आखिरी दो पंक्तियों तक आते-आते बहुत सपाट किस्म के भाषिक सयानेपन का प्रदर्शन करने की कोशिश में 'महफूज और सुरक्षित', 'आकाश और आसमां' और 'खुश और प्रसन्न' का खेल करते हुए कवि कविता के मूल असर को जैसे भटका देता है। कविता की खुशबू उड़-सी जाती है।

लेकिन और यह छोटा लेकिन नहीं है। इन बड़ी और महत्वपूर्ण कविताओं को छोड़ दें तो संग्रह की नई कविताएँ निराश करती हैं। जैसे लगता है, पंकज कविता नहीं, बस कविता का शिल्प रच रहे हैं। कुछ कविताएँ अधबनी-सी हैं तो कुछ अनमनी सी। कुछ सपाटबयानी की शिकार हैं तो कुछ अतिरिक्त गूढ़ता की। कई बार समझ में नहीं आता कि कवि आखिर क्या सम्प्रेषित करना चाहता है। यह समस्या छोटी कविताओं के साथ ज्यादा है। एक छोटी-सी कविता है, 'बता दो'। धर्म का बहकना, बच्चों का चहकना/आग का दहकना/फूलों का महकना/मुझे बता दो इनमें से कौन क्रिया है कौन प्रतिक्रिया। या फिर 'शपथ' नाम की कविता। 'सबके मुँह खुले हैं/मुट्टियां बंद/मेरा शहर शपथ ले रहा है।'

यह समस्या सिर्फ छोटी कविताओं के साथ नहीं है। कई दूसरी कविताओं में भी पंकज पर जैसे कुछ कहने, कुछ टिप्पणी

करने, कोई पक्ष लेने की चिन्ता तारी हो जाती है। कुछ कहना, टिप्पणी करना या पक्ष लेना कोई बुरी बात नहीं, लेकिन वह कविता में सहज ढंग से चला आए तो ठीक, वरना ऐसी किसी बात की डण्डी पर कविता की छतरी तानने की कोशिश कविता की कौंध को कुछ बुझा डालती है। पंकज की कई कविताओं में यही होता है। कविता शुरू होती है, लेकिन कभी वक्तव्य में बदल जाती है तो कभी भटकाव में गुम हो जाती है। साफ है, पंकज ने जो मुहावरा बनाया है, वह बड़े वितान में तो जादू करता है, लेकिन छोटे स्थान में सिमट नहीं पाता। या फिर पंकज ऐसी छोटी कविताएँ लिखते हुए शायद कुछ हड़बड़ी या असावधानी के शिकार हो जाते हैं।

बहरहाल, इसमें सन्देह नहीं कि इन कविताओं के बावजूद पंकज इस दौर के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। निस्सन्देह उनकी अच्छी कविताएँ बार-बार पढ़े जाने की माँग करती हैं और हाल के दौर में हिंदी में लिखी गई सबसे अच्छी कविताओं में शुमार की जा सकती हैं। यह देखना सुखद है कि बीते एक-डेढ़ दशकों में कई युवा कवियों ने अपना एक अलग मुहावरा विकसित किया है। संजय कुंदन, आर चेतनक्रान्ति, पवन करण, हरे प्रकाश उपाध्याय, उमाशंकर चौधरी और ऐसे कई कवि हैं जो आठवें-नवें दशक की क्रान्तिगर्जना और आखिरी दशक के आत्मसीमन के आगे जाकर एक नई कविता लिख रहे हैं जो चुप रहना भी जानती है और बोलना भी। इन सबके बीच पंकज राग की एक अलग जगह है जो इसलिए विशिष्ट हो उठती है कि उनकी कविता का वितान सभ्यता और संस्कृति, समाज और इतिहास के विराट प्रश्नों को बड़ी सहजता से समेटता है। एक तरह का सभ्यता विमर्श इन कविताओं के बीच से सम्बन्ध होता दिखता है।

यह भूमण्डल की रात है, पंकज राग, राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : 175.00 रुपये

ई-4, जनसत्ता सोसाइटी, सेक्टर नौ, वसुंधरा, गाजियाबाद, फोन-9811901398

कविता समय जो तय है आज

श्रीप्रकाश मिश्र

ए

क युवा कवि के प्रथम संग्रह से गुजरना हमेशा ही बड़ा सुखद होता है। उसमें ताजी अनुभूतियों के साथ शिल्प का नयापन आकृष्य करता है। जिज्ञासा पैदा करता है कि कवि अपने समय को कैसे देखता है, उसके दबाव से कैसे टकराता है, उसके उठानों को कैसे आत्मसात् करता है। उसे पाठक तक पहुँचाने के लिए किस तरह की शब्दावली का इस्तेमाल करता है और उसका कवि-कर्म कहाँ पहुँचता है।

मेरे सामने सन्तोष कुमार चतुर्वेदी का पहला कविता संग्रह **'पहली बार'** खुला है। जिसमें उनकी पचास कविताएँ छपी हैं। इन कविताओं पर इस दृष्टि से विचार करने की जरूरत है कि कवि की संवेदना का धरातल हमारे समय के किन छोरों का स्पर्श करती है। यानी उनकी अनुभूति की सघनता किस तरह कविता में अभिव्यक्त होती है। **'समय'** शीर्षक कविता के कुछ असम्बद्ध अंश हैं।

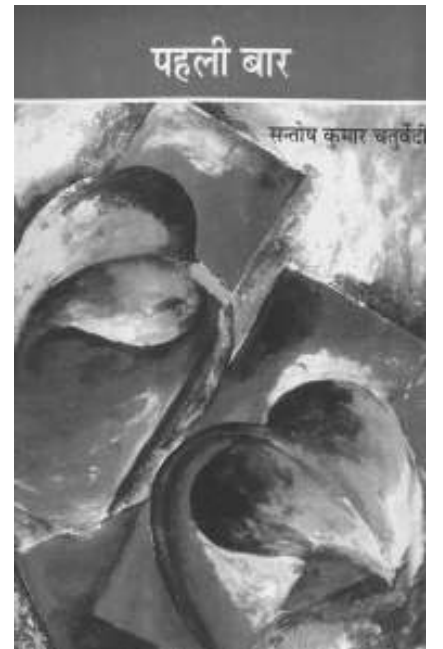
पुरानी पड़ती हुई रोज
कुछ न कुछ नई होती है दुनिया
बदलती रहती हैं तारीखें
सामने होते हैं नये दिन

.....
सब समय की सृष्टि
समय जो तय है आज
उसे बाँचने की सबकी
अलग-अलग दृष्टि

.....
दिखता है सब कुछ
पोर-पोर में छिपा अंजोर
चाँदनी में गुम रातें घनघोर

चहुँ ओर बिखरी हुई रिश्तों की डोर
लिखना है सब छूटा-फटका
नये अनुभव से होकर आना है
बार-बार

आखिरी अंश की आखिरी पंक्तियाँ जहाँ कवि के काव्य-कर्म की लगभग प्रतिबद्धता प्रस्तुत करती हैं, वहीं शेष अंश उनसी कविता को समझने की कुंजी भी प्रदान करते हैं। कवि सिर्फ स्मृति-दंश तक सीमित नहीं होना चाहता, नये अनुभवों के आवेग को भी व्यक्त करना चाहता है। रचनाएँ स्मृतियों से बनती हैं और उनमें चयन होता है। चयन उन्हीं का होता है, जिनका असर हमारे व्यक्ति को बनाने पर होता है। इनमें रोड़ों, रुकावटों की अपनी भूमिका होती है, वे 'अगर-मगर' की तरह नहीं होते, सीधे हमारी जीवन-धारा मोड़ देने वाले होते हैं। सन्तोष चतुर्वेदी उन्हें लेकर बिसुरते नहीं, इसलिए अतीतग्रस्त नहीं



होते। उनके स्पन्दनों को अपनी शिराओं में आज तक अनुभव करते हैं, आगे का रास्ता टटोलने के लिए। इसलिए उनकी कविता में पिता, माँ, स्कूल, गाँव, बरगद फैशन की तरह नहीं, रचनात्मक ऊर्जा की तरह आते हैं। माँ, पिता, अध्यापक, सम्बन्धियों—साथियों की इच्छा को अपनी इच्छा में रूपान्तरित कर वे आकांक्षा का वह जटिल संसार बनाते हैं, जिन्हें लेकर बिसुरना नहीं है, भविष्य का स्वयं निर्माण करना है। उस निखमति को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना है। उससे जो नये अनुभव प्राप्त होंगे, उसे दूसरों के साथ बाँटना है इस समय को वे पहले से तय पाते हैं—यानी जो समय उन्हें मिला है उसे बनाने में उनकी भूमिका नहीं है। वह जैसा भी है विरासत में मिला है। बनाना तो उसे है, जिसे वे छोड़ जायेंगे। यह तयशुदा समय में उनका हस्तक्षेप, उनकी भूमिका है, उनका व्यक्तित्व है।

इस तयशुदा समय में 'कूड' की वे बहुत वर्णन, बहुत व्याख्या नहीं करते। उनकी कविता में बाबरी विध्वंस, साम्प्रदायिकता, जातियों का संकीर्ण राजनीतिक उभार, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, तदजन्य मतनिरपेक्षता की समस्याएँ, बाजारवाद—वैश्वीकरण की सिमटती दुनिया, अमेरिका का बढ़ता वर्चस्व, खाड़ी युद्ध से लेकर ईरान पर हमले की बढ़ती सम्भावनाओं का सीधा जिक्र नहीं मिलता। यह काम तो हमारे समय के लगभग सभी कवि कर रहे हैं। उसका जो असर कवि की अपनी मानसिकता और भूमिका बनाने में होता है, उसका जिक्र है। इसलिए पहले वाचन में उनकी कविताएँ स्वकेन्द्रित लग सकती हैं, लेकिन यदि दूसरा वाचन करिए तो समय के दबावों की पड़ताल के साथ पोर—पोर में छिपा अंजोर बगबगा उठता है। यह कवि के रचाव की अपनी विशेषता है, कि संग्रह को एकाधिक बार पढ़ने के लिए उकसाता है और हर बार थोड़ा और बासी पड़ जाने की जगह एक नई ताजी महक का विस्फोट करता है। यह ऐसा इसलिए हो पाया है कि उन्होंने अपने समय की बारीकियों को पचाया है।

सन्तोष चतुर्वेदी की कविता के केन्द्र में मनुष्य है चिन्ता के लिए भी, उल्लास के लिए भी। वे मनुष्य पर ही सभी घटनाओं,



अनुभूतियों, सोच और आश्वस्त को घराते हैं। आदमी का मनुष्य बन जाना वैसा आसान काम नहीं है, जिसे आप से आप हो जाना चाहिए। बहुत कुछ हो रहा है दुनिया में, लेकिन वह नहीं हो रहा है जिसे सबसे पहले होना चाहिए। जमघट है दुनिया भर की उपलब्धियों का, पर इन्सान होना आदमी के लिए उपलब्ध नहीं। उसके लिए व्यक्ति को प्रयत्न करना पड़ता है और परिस्थितियाँ हैं कि इसकी दिशा मोड़े रहती हैं। उसके लिए जो माहौल, मानस और जीवन चाहिए वह नहीं है। सन्तोष चतुर्वेदी न केवल उसे पहचानते हैं, उससे निजात के लिए कसर भी कसते हैं। यही उनके आत्म को साथ के लोगों से जोड़ता है, विश्व से जोड़ता है। दृष्टव्य है 'बातें ऐसे जोड़ती हैं' शीर्षक कविता। एक अंश है—

इतनी सारी बातें

ऐसे जोड़ती हैं

एक दूजे को

जैसे सूरज से जुड़ी है

पृथिवी

तमाम दूरियों के बावजूद

वे अपनी कविता जगत में उपस्थित ठोस वस्तुओं को लेकर लिखते हैं। उन चीजों का महत्त्व इसलिए नहीं है कि वे जगत में यूँ ही हैं, इसलिए है कि उनका सम्बन्ध मनुष्य से जुड़ता है। कहीं—कहीं तो चीजें मनुष्य का स्थानापन्न बनकर उभरती हैं। सन्तोष चतुर्वेदी की कविता में चीजें न तो सिर्फ साधन हैं, न प्रतीक। वे अपने वास्तव

में भी हैं। 'बरगद' शीर्षक कविता इसीलिए एक बड़ी महत्त्वपूर्ण कविता बन जाती है। उस बरगद का वजूद सिर्फ इसके लिए नहीं है कि वह मनुष्य समेत तमाम प्राणियों के लिए उपयोगी है, उसके नीचे और इर्द—गिर्द तमाम मानवीय—अमानवीय घटनाएँ घटी हैं, इसलिए है कि वह है अपने पूर्णतः होने के साथ। इसलिए जब वह कटता है तो सिर्फ उससे जुड़ा हुआ स्वार्थ और स्मृतियाँ ही नहीं कटतीं, वह स्वयं कटता है—अनन्त विश्व में एक शून्य पैदा करता है। लेकिन यह शून्य गृहासक्ति नहीं पैदा करता। ऐसे शून्य से जीवन का अन्त नहीं हो जाता, न मनुष्य का, न वस्तुओं का। उन शून्यों में उम्मीदें भर जाती हैं—

पताकाओं की तरह

अनिश्चित उनकी राहें

अवलम्बित

हवाओं के रहम—ओ—करम पर

यह हवा पंचतत्वों में से एक भूत नहीं है। उसमें वह हवा भी शामिल है जो मनुष्य बनाता है और जो मोड़ देता है इतिहास के रथचक्र को एक सही दिशा की ओर।

कविताएँ शब्दों से रची जाती हैं। शब्द के बारे में भी सन्तोष चतुर्वेदी की एक अवधारणा है। उसकी एक पंक्ति 'शब्द घूम आते हैं' शीर्षक कविता में है—

शब्द घूम आते हैं

बिना बताए

सरहद लॉघकर जोड़ लेते हैं

लोगों से रिश्ते

दूसरी पंक्ति 'सच्चाई' शीर्षक कविता में है—

बिम्ब है सच्चाई

जिसे इस्तेमाल करते हैं लेखक कभी—कभार

अपनी कहानियों में चमक लाने के लिए

कोसभर दूर रखते हैं कविताओं से कवि

सोचने की बात है कि शब्द जिन सरहदों को लॉघते हैं वह सिर्फ आदमी और आदमी के बीच नहीं होता, आदमी और समुदाय के बीच होता है, आदमी और राष्ट्र के बीच होता है, आदमी और महाद्वीपों के बीच होता है। उसकी व्याप्ति पूरे भू—मण्डल

में है। इसलिए शमशेर बहादुर सिंह चीख उठते हैं□

मैं ब्रह्माण्ड में उठा

एक मुण्ड हूँ

हूँ...हूँ...हूँ...

यह मुण्ड शून्य में ही उठा नहीं है, जगत् में भी उठा है और यह हूँ की अनुगूँज सिर्फ शून्य में ही नहीं, जगत् में भी है, कवि के अस्तित्व को प्रमाणित करती हुई और यह अनुगूँज जगत् और ब्रह्माण्ड के पार चली जाती है। उसी अनुगूँज की प्रतिध्वनि सन्तोष चतुर्वेदी के आत्म में गिरती है। अपनी कविता के माध्यम से वे न केवल अपने आत्म को पार करते हैं, एक नया आत्म बनाते हैं, बने हुए आत्म को पुनर्नवा करते हैं□

पुराना पड़ गया है

सच्चाई का मॉडल

खटाई की तरह

जिससे किसी सभ्यता के लोग

चमकाते थे अपने बर्तनों को

यह भी गौर करने की बात है कि सन्तोष चतुर्वेदी बिम्ब को लेखक के हवाले करते हैं, कवि के हवाले नहीं। यह प्रथम दृष्टया उल्टी बात लगेगी, लेकिन वे बता रहे हैं हमारे लेखन-जगत् का एक समसामयिक सच। यह जो आभासी जगत् रचा जा रहा है और ऐसा वास्तविक जगत् की सच्चाई बताने के लिए किया जा रहा है, वह हमारी कहानियों से उभर रहा है। बरास्ते उदय प्रकाश, बरास्ते बर्खेज और मार्खेज। कविता तो अभी की खाटी जगत् लेकर चल रही है। विनोद कुमार शुक्ल जैसे कवियों के बावजूद। स्वयं सन्तोष चतुर्वेदी की कविताएँ इसका उदाहरण हैं, जो अपनी कविता के लिए अपना मुहावरा गढ़ते हैं□

जाहिर है इतने सकारात्मक सोच व रचाव का आनन्द संग्रह पढ़कर ही उठाया जा सकता है। इस कवि की पहली उड़ान का स्वागत किया जाना चाहिए।

पहली बार, सन्तोष कुमार चतुर्वेदी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-110003 मूल्य : 120.00 रु.

406, त्रिवेणी रोड, कीडगंज/इलाहाबाद (उप्र)/फोन नं. 09451142647

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिन्दा एक लाख पृष्ठ **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएँगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अन्तर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** में म.गां.अं.हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री, यथा, संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएँ अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी मेंक्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएँ। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केन्द्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

निराला के काव्यलोक की अंतरंग यात्रा

शिवकुमार मिश्र

नि

निराला : कृति से साक्षात्कार' कविता के विदग्ध समीक्षक, डॉ. नन्दकिशोर नवल की नई किताब है, विशुद्ध काव्यास्वाद की मनोभूमि से निराला के काव्यलोक का अन्तरंग

साक्षात्कार, जिसका लक्ष्य है। निराला आधुनिक हिंदी-कविता के शिखर-कवियों में एक हैं। छायावाद की वृहत्-त्रायी में केन्द्रस्थ तो वे हैं ही, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने उन्हें 'शताब्दी के कवि' का मान भी दिया है। उनके अनुसार उनकी कविता में बीसवीं शताब्दी की कविता और काव्यांश की अनुगूँज को सहज ही सुना जा सकता है। स्वच्छन्दतावादी-छायावादी भाव-भूमि की उपज होने के बावजूद वह उनकी सीमाओं का अतिक्रमण भी करती है, कविता के नये प्रस्थान-बिन्दुओं के लिए मार्ग भी प्रशस्त करती है। उनकी संवेदना और उनकी कविता का पार अत्यन्त विशद और व्यापक है। इसी नाते शताब्दी की नव्यतम भाव-भूमियों तथा विचार भूमियों का समावेश उसमें हो सका है। वह महासमर जिसे निराला अपने पूरे जीवन लड़ते रहे हैं अपने हल्के-गहरे निशानों के साथ उनकी कविता में अक्षत प्रतिबिम्बित हैं। उनकी कविता में यदि उनके उमंग-तरंगित मन का आवेग-ओज और उत्साह है, धरती और आकाश को एक कर देने का हौंसला है, तो गहन अवसाद, एकाकीपन, शरीर और मन के क्लान्त क्षणों के, थके-हारे, व्यथा-मिश्रित स्वर भी हैं। ऐसी विशद, बहुआयामी, संवेदना से उपजी, उतनी ही विशद, बहुआयामी, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अर्थ-छवियों वाली कविता से अन्तरंग और सीधे साक्षात्कार का प्रयास अपने को एक कठिन चुनौती के दायरे में लाने वाला उपक्रम था, निराला

की कविता से अपने लम्बे, सघन और अनेक स्तरीय साहचर्य के चलते हमारे समय में डॉ. नन्दकिशोर नवल ने जिसे भरसक किया है। डॉ. नवल ने इसके पूर्व 'निराला' रचनावली' के आठ खण्डों में न केवल निराला के समूचे रचना-संसार को समेटा और सम्पादित किया है, उन्होंने उसे व्यवस्था भी दी है, उसके पाठ को सुधारा और संशोधित किया है, यही नहीं, उस पर अपने सारगर्भित मंतव्य भी दिए हैं।

किन्तु, जैसा कहा, डॉ. नवल की यह किताब इस नाते एक अलग तरह की किताब है कि इसमें उनके आलोचक अथवा अध्येता के बजाय उनके आस्वाद की भूमिका प्रधान है। उन्हीं के शब्दों में "यह पुस्तक वस्तुतः निराला की कविताओं के सौन्दर्यापभोग में भागीदारी के लिए लिखी गई है।...मैंने इस



पुस्तक में भरसक प्रयास किया है कि कविता की पँखुड़ियाँ छिन्न-भिन्न न हों और वह सिर्फ अपनी नाल पर प्रस्फुटित हो जाए।" यही कारण है कि यह पुस्तक न तो निराला के काव्य की समीक्षा है और न ही उसकी कोई पाण्डित्यपूर्ण-शास्त्रीय या मात्रा उनके अर्थ को विवृत करने वाली कोई गैर-शास्त्रीय-टीका। कविताओं के पाठ को महत्त्व देते हुए भी यह पाठालोचना भी नहीं है, जिसकी सीमा से नवल जी भली-भाँति परिचित हैं और जिनका उल्लेख भी उन्होंने पुस्तक की भूमिका में किया है। वे जानते हैं कि कविता अपनी जड़ें पाठ के बाहर जिन्दगी में गहरे और दूर-दूर तक फँकती है। उसका तमाम कुछ यदि उसके पाठ के भीतर होता है, तो तमाम कुछ पाठ के बाहर भी, जो पाठ के भीतर वाले अंश को रस और पोषण की सामग्री देता है। इसी नाते आवश्यकतानुसार वे पाठ से बाहर भी गए हैं, कविताओं को निकट से ही नहीं, दूर से भी देखा है। स्वतः उनके अनुसार कविताओं की व्याख्या में उनकी दृष्टि एक रस-प्रलुब्ध पाठक की रही है। इतर पाठकों पर उनका कोई दबाव भी नहीं है कि वे उनके कहे-देखे का अनुसरण करें। दूसरों से, सहभागिता के लिए उनका खुला आमन्त्राण है इस उम्मीद के साथ कि उनकी "अपनी रस-ग्राहकता तथा कल्पनाशीलता सक्रिय हो। वे जो भी देखें, अपनी आँखों से, मेरे द्वारा प्रयुक्त गद्य के माध्यम से नहीं।"

साक्षात्कार के हेतु निराला के समूचे काव्य के बजाय डॉ. नवल ने अपनी रुचि के अनुरूप उसके मध्यवर्ती और परवर्ती रचना-काल की कुछ श्रेष्ठ कविताओं का ही चयन किया है, अधिकतर लम्बी और ख्यात कविताओं का। इस अवधि की कुछ श्रेष्ठ

कविताएँ उनके चयन की जद में नहीं आ पायी हैं, जिसका बोध उन्हें है। गीतों का चयन निराला के पूर्ववर्ती-मध्यवर्ती और परवर्ती, तीनों रचनाकालों से हुआ है। उनके इस चयन को लेकर मत-मतांतर हो सकता है, परन्तु मैं इसे आस्वादक की अपनी रुचि और निर्णय का प्रश्न मानता हूँ, जिस पर विवाद या बहस नहीं होनी चाहिए। चुनाव के दायरे में निराला की दुर्बोध तथा सरल-सहज मानी जाने वाली, दोनों तरह की कविताएँ आयी हैं। कविताओं-गीतों की दुर्बोधता तथा सहजता पर जो टिप्पणी पुस्तक की भूमिका में नवल जी ने की है, उससे सामान्यतः मेरी सहमति है।

एक ऐसी किताब, जिसका सम्बन्ध एक 'रस-प्रलुब्ध' आस्वादक के अपने रसबोध तथा सौन्दर्यबोध से हो, और दूसरों को अपनी रसग्राहकता तथा कल्पनाशीलता के आधार पर सक्रिय होने की छूट दी गई हो, समीक्षा के दायरे में आए, यह संगत नहीं लगता। सहभागिता के स्तर पर उसके बारे में इतना ही कहना चाहूँगा कि नवल जी ने अपनी रस-ग्राहकता तथा सौन्दर्य-चेतना की जमीन से, निराला-काव्य से अपनी लम्बी और सघन अनुरक्ति-संसक्ति के चलते और एक विदग्ध काव्य-समीक्षक की अपनी हैसियत तथा उस रूप में हिंदी-जगत में अपनी पहचान को कायम रखते हुए, अपने रसोपभोग और सौन्दर्योपभोग का जो सार सुलभ किया है, उससे रूबरू होना, कविताओं-गीतों की उनकी व्याख्याओं से होकर गुजरना, अधिकांश में मेरे लिए एक प्रीतिकर अनुभव ही रहा है। कविताओं-गीतों की व्याख्या में वे उनके शब्द-दर-शब्द और पंक्ति-दर-पंक्ति से होकर गुजरे हैं, उनके भाव तथा विचार-लोक में गहरे डूबे उतराए हैं। यही नहीं, कविताओं-गीतों के संगीत, नाद और लय सब पर उनकी निगाह रही है। सचमुच, भरसक उन्होंने कविताओं-गीतों के मर्म तक पहुँचने की कोशिश की है। निराला की कविताओं और गीतों से इतना सघन-अंतरंग साक्षात्कार करने वाले, कदाचित् हमारी पीढ़ी में वे अकेले व्यक्ति हैं।

बावजूद इसके, चूँकि पुस्तक में ऐसे स्थल भी हैं जहाँ निराला की कविताओं तथा गीतों की अपनी व्याख्या के श्रम में वे अपने पूर्ववर्तियों द्वारा की गई व्याख्या-विश्लेषण से टकराए हैं और ऐसे स्थलों पर उनके आस्वादक

के बजाय उनका अपना समीक्षक-रूप सामने आया है, उनकी इस भूमिका पर मैं जरूर कुछ कहना चाहूँगा। नवल जी तथा उनके पूर्ववर्तियों के बीच ऐसे स्थलों पर जिन तमाम कविताओं की व्याख्या को लेकर टकराव हुआ है, उनमें 'सरोज-स्मृति' 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति-पूजा', 'कुकुरमुत्ता' जैसी निराला की ख्यात कविताएँ भी हैं, और पूर्ववर्ती भी और कोई नहीं, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. रामविलास शर्मा और श्री नलिन विलोचन शर्मा जैसे ख्यात आचार्य और निराला-काव्य के सघन अध्ययता हैं।

बावजूद इसके, कि नवल जी के मन में इन सबके प्रति गहरे सम्मान का भाव है, जिसका साक्ष्य भी उनके विवेचन में है, वे कविताओं की व्याख्या को लेकर न केवल उनसे असहमत हुए हैं, उन्होंने कविता की उनकी समझ पर तल्ख टिप्पणियाँ भी की हैं। मसलन 'सरोज-स्मृति' कविता को लें, तो असहमति के गौण पहलुओं को छोड़ भी दें, तो भी उसके अन्तिम अंश 'हो इसी कर्म पर वज्रपात' से लेकर 'दुख ही जीवन की कथा रही' तक की डॉ. रामविलास शर्मा की व्याख्या को न केवल उन्होंने अमान्य किया है, उसे निराला के प्रति उनका अन्याय भी माना है (पृ. 164)। डॉ. रामविलास शर्मा हों या आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, ये लोग न केवल निराला के जीवन-सन्दर्भों से घनिष्ठ रूप में जुड़े रहे हैं, उनके सुख-दुख में उनके सहभागी भी रहे हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक सरोज-प्रकरण के भी ये महज दृष्टा नहीं,



अनेक बिन्दुओं पर उसमें भागीदार भी रहे हैं। उक्त पंक्तियों में निराला की जिस मनोभूमि को डॉ. रामविलास शर्मा ने उद्घाटित किया है और जिस पर वे अपनी पहली पुस्तक 'निराला' से लेकर अन्त तक कायम रहे हैं, आचार्य वाजपेयी ने भी उसकी पुष्टि की है। स्वतः निराला ने भी अपने जीवन-काल में उसे देखा-पढ़ा होगा। ऐसी स्थिति में डॉ. शर्मा की व्याख्या की उक्त पंक्तियों को एकदम 'उल्टी व्याख्या' कहना और उसे निराला के प्रति एक 'बड़ा अन्याय' घोषित करना समझ में नहीं आता। नवल जी ने उक्त प्रसंग की एकदम नयी व्याख्या की है जिसके मूल में उनके अपने तथ्य तथा तर्क होंगे और सुविज्ञ पाठक उस पर अपना निर्णय भी देंगे। जहाँ तक मेरी अपनी बात है, इस विषय पर मैं डॉ. नवल की व्याख्या से सहमत नहीं हूँ मेरी सहमति डॉ. रामविलास शर्मा की व्याख्या से है। अपनी असहमति को विशद करके चर्चा को अनावश्यक विस्तार मैं नहीं देना चाहता। इसी तरह 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' कविता के सम्बन्ध में आचार्य वाजपेयी ने अपने ढंग से और डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने ढंग से आरोपित पाण्डित्य और आभासजन्य दुर्बोधता का जो प्रश्न उठाया है, अनेकांश में मैं उनके इस विचार से भी सहमत हूँ। नवल जी को उनके इस विचार से असहमत होने का पूरा अधिकार है, परन्तु इस विषय पर उन्होंने आचार्य वाजपेयी और डॉ. रामविलास शर्मा की कविता-सम्बन्धी समझ पर जो टिप्पणी की है, उसे मैं एक हल्की-अहेतुक और अनुदार टिप्पणी मानता हूँ। अपनी किताब में नवल जी ने लिखा है 'कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके पीछे कविता की 'उमड़कर आँखों से चुपचाप/बही होगी कविता अनजान' वाली धारणा जोर-शोर से स्थित है।' यही नहीं, उन्होंने यह भी लिखा है कि 'इन लोगों को जैसे सरल कविताओं का चस्का लग गया है।' नवल जी स्वतः सोचें कि अपने सम्मान्यों पर इस तरह की टिप्पणियाँ कहाँ तक संगत हैं?

एक अन्य बात जिसे मैं नहीं समझ सका हूँ वह यह कि अपने विवेचन में डॉ. नवल ने किस आधार पर 'तुलसीदास' कविता के प्रसंग में यह लिखा है कि 'डॉ.

शर्मा ने इस कविता को महत्त्व दिया है, लेकिन आधे-मन से, क्योंकि इसमें इस्लाम का विरोध है, रत्नावली के प्रेमाकर्षण का बहुत मोहक वर्णन है और वेदान्त भी है। रत्नावली को तो उन्होंने रीतिकालीन नायिका कहा है और तुलसीदास के प्रेम को मध्यकालीन समाज की विलासिता का विस्तार।” (पृ. 123-124)। जहाँ तक डॉ. शर्मा की बात है उनकी 'निराला' पुस्तक में रत्नावली-प्रसंग पर उनकी जो टिप्पणी है, उससे उनके बारे में डॉ. नवल का कहा हुआ कहाँ तक मेल खाता है, विज्ञ पाठक स्वतः निर्णय लें। डॉ.



रामविलास शर्मा के शब्द हैं—“रत्नावली के शब्दों में (‘धिकधाए तुम यों अनाहूत...’) तुलसीदास को नहीं, वरन् साहित्य और संस्कृति की समस्त रीतिकालीन परम्परा को धिक्कारा गया है। उसके ‘योगिनी’ रूप में मध्यकालीन नारी का नायिका-भेद वाला रूप जलकर भस्म हो गया है।” डॉ. नवल का यह कहना सही है कि निराला कतई साम्प्रदायिक नहीं हैं, परन्तु यह भी सही है कि ‘मतवाला’ के दौर में हिन्दू-पुनरुत्थानवाद के प्रभाव में अल्प समय के लिए वे आए थे, परन्तु जल्दी ही उस प्रभाव से मुक्त भी हो गए। जहाँ तक ‘कुकुरमुत्ता’ कविता की बात है—उसकी बुनावट ही कुछ ऐसी है कि मत-मतान्तरों के लिए काफी गुंजाइश छोड़ती है।

असहमति के बिन्दुओं के उपरान्त सहमति के भी कुछ बिन्दु। कृतिवास-रचित रामकथा के आधार के बावजूद निराला की ‘राम की शक्ति-पूजा’ कविता में उससे इतर निराला जी की जो मौलिक उद्भावनाएँ हैं, उनका तथा ‘राम की शक्ति-पूजा’ कविता के रचनात्मक सौष्ठव का नवल जी ने पूरे मन से खुलासा किया है। ‘हिंदी के सुमनों के प्रति’ कविता में ‘मैं ही वसन्त का अग्रदूत’ की नवल जी की व्याख्या से मेरी सहमति है। ‘मैं तोड़ती पत्थर’ कविता में ‘हाँ, मैं तोड़ती पत्थर (हृदय)’ की नवल जी की ब्यंजना सटीक और सारगर्भित है। ‘जागो फिर एक बार’ शीर्षक की दोनों कविताओं तथा ‘बादल-राग’ शृंखला की सारी कविताओं की माखमक विवृति उन्होंने की है। ‘सम्राट अष्टम

एडवर्ड’ कविता को महत्त्व देकर डॉ. नवल ने एक जरूरी पहल की है। वस्तुतः निराला का काव्यलोक इतना विशद, बहुआयामी और संश्लिष्ट है कि उसे लेकर सहमति-असहमति के बिन्दुओं का उभरना स्वाभाविक है। मुख्यबात है पूरे मन से, पूर्वाग्रह मुक्त होकर वस्तुनिष्ठ रूप से उसे आँकने-परखने की।

अपनी चर्चा का समापन मैं वस्तुनिष्ठता के मुद्दे पर जोर देते हुए करना चाहूँगा। मैंने अपने आलेख के आरम्भ में लिखा है कि निराला के काव्य में जहाँ एक ओर उमंग-तरंगित मन का आवेग, ओज और उत्साह है, वहीं दूसरी ओर अवसाद और अकेलेपन, पराजय-बोध के व्यथापूरित स्वर भी। जरूरत उनके जीवन और उनकी कविता के इन दोनों पहलुओं के बीच से उन्हें और उनकी कविता को आँकने-परखने की है। इसे विडम्बना ही कहेंगे कि निराला के जीवन-सन्दर्भों को लेकर जो तमाम तरह के ‘मिथ’ हिंदी-जगत में प्रचारित-विज्ञापित हैं, उनमें न केवल उनके जीवन-यथार्थ की उपेक्षा है, वे निराला के व्यक्ति और उनके काव्य के वस्तुनिष्ठ अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा भी हैं। उनके कष्ट-क्लेश को, परवर्ती समय की उनकी शारीरिक यातना तथा निहायत क्लान्त-विदीर्ण मनःस्थिति को भी गौरवान्वित-महिमामण्डित करते हुए देखने का प्रयास किया गया है, जो दुर्भाग्यपूर्ण है। ‘महाप्राण’ जैसे विशेषण-सम्बोधन देकर तमाम कुछ अतिरंजित जो कुछ हिंदी-जगत में प्रचारित है, उससे मेरी नितांत असहमति है। ‘मेरा

अन्तर वज्र कठोर’, ‘अभी न होगा मेरा अन्त’ का उद्घोष करने वाले, मृत्यु से भी पंजा लड़ाने का हौसला रखने वाले पूर्ववर्ती निराला की, परवर्ती समय-सन्दर्भों में, ‘मैं अकेला’, ‘हार गया जीवन-रण’, ‘दुरित दूर करो नाथ’, ‘भग्न तन, रुग्ण मन’ जैसी कातर वाणी, ईश्वर से की गयी आर्त पुकार क्लेश देती है, मन को भीतर तक मथ देती है। यह सही है कि अपने दृढ़ मानस, दृढ़ इच्छाशक्ति और प्रबल जिजीविषा के चलते परवर्ती क्लान्त समय में भी वे सुस्थिर होते हैं, ‘जी के एक और फेरे’ की चाह करते हैं, प्रकृति तथा जीवन के सौन्दर्य, हर्ष-उल्लास के चित्रा देते हैं जिन्हें रेखांकित किया जाना जरूरी है, परन्तु उनके जीवन में दूसरे पहलू की संगति में, उसे नजरन्दाज करके नहीं। जरूरत विषम जीवन-सन्दर्भों में उनके वस्तुनिष्ठ अध्ययन की है, उनकी ‘देवमूखत’ गढ़कर, उनके कष्ट-क्लेश को भी महिमामण्डित करके हर जगह, हर स्थल पर उनमें वीरत्व देखने और खोजने की नहीं। मुझे विश्वास है कि इस विषय पर नवल जी मुझसे सहमत होंगे।

इस उम्मीद के साथ मैं अपनी चर्चा को समाप्त करना चाहूँगा कि निराला के नव्य-लोक का जो महत्त्वपूर्ण अंश नवल जी की किताब में नहीं आ पाया है, वे उससे भी मुखातिब हों और उसे—उसकी सर्वांगता में अपनी रस-ग्राहकता तथा सौन्दर्य-बोध के दायरे में लाएँ। वे इस कार्य के लिए पूर्णतः सक्षम हैं। मैं कह चुका हूँ कि निराला के काव्य-लोक की उनकी अन्तर्यात्रा में सहभागी बनकर—अधिकांशतः बड़े प्रीतिकर अनुभवों से होकर मैं गुजरा हूँ। उनकी यह किताब उनकी वर्षों की सारस्वत-साधना की फलश्रुति है, हमारे समय की एक महत्त्वपूर्ण, अपने ढंग की किताब है। मैं उसका तहे-दिल से स्वागत करता हूँ।

निराला : कृति से साक्षात्कार, नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : 750.00 रुपये

17, मानसरोवर पार्क, वल्लभ विद्या नगर-388120 (गुजरात)

अमृतलाल नागर बेटी की स्मृतियों में

राजकुमार सैनी

का

लजयी कथाकार अमृतलाल नागर की सुपुत्री अचला नागर ने अपने पिता के संस्मरणों के इस संग्रह में कई महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख

किया है; उदाहरण के लिए यह, कि नागर जी के प्रसिद्ध उपन्यास 'बूँद और समुद्र' की ताई और 'खंजन नयन' की कंता की मृत्यु के प्रसंग लिखने के बाद बेटी ने पिता को रोते हुए पाया। जब बेटी ने पिता से पूछा 'क्या हुआ बाबू जी?' तो पिता हिचकियां लेते हुए बोल पड़े 'बेटा कंता मर गई।' रचनाकार का अपने पात्रों के साथ यह लगाव ही अमृतलाल नागर को ऐसा कथाकार बनाता है कि उनका कथा-संसार उत्तर भारतीय मानव जीवन का पर्याय प्रतीत होता है। अचला नागर बताती है कि कथाकार का लेखन किसी हठयोग से कम नहीं था। कुछ भी नया शुरू करने से पहले अमृत जी कुछ और ही हो जाते थे। 'लम्बी-लम्बी सैरें, विषय से सम्बद्ध पुस्तकों को प्राप्त करने के प्रयास, उनका पठन-पाठ, उस पर मनन-चिन्तन और बहस। कभी-कभी घर के अन्य सदस्यों की सहायता भी। 'नाच्यौ बहुत गोपाल' के समय 'निर्गुनिया' को ढूँढकर बाबूजी तक लाने में' बा (श्री अमृतलाल नागर की पत्नी) भी सहायक बनीं। बा को अक्सर हरिजन बरती जाना पड़ता था। वहाँ औरतों से कुरेद-कुरेद कर वे बातें उगलवातीं। उनका पौत्रा पारिजात कैमरा निकालकर चित्रा खींच लेता। इस सबसे नागर जी को अपने पात्रा तलाशने और उन्हें तराशने में सहयोग मिलता। इस प्रकार नागर जी के हठयोग और परिवार के सदस्यों तथा आत्मीय मित्रों के सहयोग के मणिकांचन संयोग से 'नाच्यो

बहुत गोपाल' की रचना सम्पन्न हुई। उनकी अधिकांश कृतियों की रचना-प्रक्रिया ऐसे ही सहयोगी प्रयासों का सुफल थी। उनकी कथा-रचनाओं में सर्वाधिक योगदान उनकी पत्नी का ही रहा। इसीलिए नागर जी प्रायः इस आशय की टिप्पणी करते हुए कहा करते थे 'तीन चौथाई अमृतलाल नागर तो मेरी पत्नी है।'

इस सन्दर्भ में यह टिप्पणी करना प्रासंगिक होगा कि अधिकांश रचनाकारों की रचना-प्रक्रिया की यातना उनकी जीवनसंगिनी को भी झेलनी पड़ती है। इस तथ्य को अपने पिता के सन्दर्भ में अचला नागर ने अपनी इस किताब में रेखांकित किया है। इस सम्बन्ध में लेखिका की जितनी तारीफ़ की जाए, कम है। इसी प्रसंग का एक अंश उद्धृत करना अपेक्षित होगा।



'सृजनात्मक और आख्यक असुरक्षा के चलते पहले से ही क्रोधी बाबू जी (पिता अमृतलाल नागर) का क्रोध अब और भी बढ़ गया था, लेकिन कैसा क्रोध था यह जो किसी और पर नहीं, सिर्फ बा (अचला नागर की मां और नागर जी की पत्नी) पर ही निकलता था और बा, झगड़े में मात्रा रोती नहीं थीं; रोते-रोते अपने तर्क भी रखती थीं, बहस भी करती थीं। वह अपनी जगह ठीक थीं, किन्तु ये सब बाबू जी के क्रोध की आग में घी का काम करता...

इस सबमें सबसे ज्यादा दिलचस्प बात यह थी कि जिस पर बाबूजी अपनी मानसिक व्यथा का पहाड़ तोड़ते थे, वही बा बार-बार उन पर ठण्डे फाहे रखतीं, उन्हें दिलासा देतीं...

ऐसे ठण्डे फाहों से शान्त होते बाबूजी 'लेखक' भी बन गए; किन्तु हर पुस्तक के लेखन के गर्भकाल से प्रसव तक की तमाम पीड़ा बाबूजी के क्रोध के रूप में बा को ही झेलनी पड़ी। बाबू जी यह सब समझते भी थे। तभी तो मुँह खोलकर बार-बार यही कहते, 'तीन चौथाई अमृतलाल तो मेरी पत्नी है।'

उपर्युक्त अंश अचला नागर की पुस्तक का मुझे सर्वोत्तम अंश लगा। क्योंकि यह अंश नागर जी के कथाकार के अन्तःकरण की एक तस्वीर पेश करता है, ऐसी जीती जागती और बोलती हुई तस्वीर जो हमें एक महान रचनाकार के भीतर सुलगते हुए और प्रस्फुटित होते हुए ज्वालामुखी से परिचित कराती है और यह अहसास कराती है कि रचना-प्रक्रिया का विस्फोट आनन्दप्रद होते हुए भी कितना कष्टप्रद होता है, न केवल व्यक्ति रचनाकार के लिए बल्कि उसके

प्रियजनों के लिए भी।

समकालीन कथाकार ज्ञानरंजन ने तो कहानी लिखना ही छोड़ दिया इस आशंका से कि रचना का यह **विस्फोट** परिवार के लिए हानिकारक न हो जाए।

इस पुस्तक की लेखिका ने शायद इसीलिए **'खरी लेखिका'** बनने का संकल्प नहीं किया जबकि पिता अमृतलाल नागर ने अपने पत्रों द्वारा उन्हें परोक्ष रूप से बार-बार अभिप्रेरित किया। वे बॉलीवुड-संसार में मगन रहीं और एक के बाद एक पुरस्कार बटोरती रहीं। लेखिका को गौरवर्ण पर मनोग्रन्थि की सीमा तक गुमान रहा। विलायती रंग का उन्हें बचपन से ही अहसास रहा; गुलाबी गालों का भी। शायद इसीलिए वे इस सबका बारंबार उल्लेख करने से नहीं चूकतीं। तथापि बकौल कामायनीकार (जयशंकर प्रसाद) सौन्दर्य जलधि से उन्होंने केवल गरल-पात्रा ही नहीं भरा; इस समुद्र-मंथन से उन्होंने अपना अमृत-कलश भी भरा है। तभी तो हम जान सके हैं कि महान कथाकार अमृतलाल नागर का लेखन किसी हठयोग से कम नहीं था और उनका लेखन-धर्म मानव-धर्म का पर्याय था; वह लेखन व्यक्तिगत न होकर सहयोगी-सामूहिक और सामाजिक लेखन था; अपने पाठकों के प्रति उत्तरदायित्व से परिपूर्ण था; अपने समाज की जीती-जागती और बोलती तस्वीर पेश करता था। अपनी पुस्तक से अपने पिता और हिंदी के कालजयी कथाकार अमृतलाल नागर के व्यक्तित्व और कृतित्व का पाठकों से अंतरंग परिचय कराने के लिए वे बधाई की पात्रा हैं। उनका यह प्रयास प्रशंसनीय है।

अपना प्रसिद्ध उपन्यास 'खंजन नयन' लिखने के लिए अमृतलाल नागर ने ब्रजप्रदेश की यात्राएँ कीं। सूरदास के समय का एक नक्शा खोजा ताकि वे उस समय की यमुना के तट और सूर-कुटी के फासले को जान सकें। काफी काम मथुरा में रहकर किया। फिर लखनऊ चले गए। लेकिन उपन्यास का समापन करने के लिए मथुरा फिर लौटे। उसी चबूतरे पर बैठकर 'खंजन नयन' उपन्यास का आखिरी पृष्ठ लिखा जिस पर महाकवि सूरदास ने आखिरी साँस ली थी।

इसी प्रकार 'मानस का हंस' उपन्यास लिखने के लिए उन्होंने अवध-प्रदेश की

खोजपूर्ण यात्रा की थी। 'बूँद और समुद्र' उपन्यास की 'ताई' की हवेली का स्कैच तैयारकर बेटी अचला नागर को दिखाया। अचला ने पूछा 'ये क्या है बाबूजी?'

"बेटा, ताई की हवेली का नक्शा...। ये देख, एक दरवाजा इस गली में खुलता है, जो टाकुर द्वारे की तरफ जाती है। और पिछवाड़े वाला द्वार...जिस घर में मैं इन दिनों रह रहा हूँ, मुझे मालूम तो होना चाहिए कौन-सा दरवाजा कहाँ खुलता है, किस कमरे में कौन रहता है?"

बम्बई से लखनऊ लौटे यह संकल्प लेकर कि 'मानस का हंस' लिखना है तो बात-बात पर झुंझलाते, पत्नी से लड़ते-झगड़ते और बार-बार कहते "नहीं रहूँगा इस घर में, अयोध्या जा रहा हूँ।"

अचला नागर के शब्दों में "बाबू जी (अमृतलाल नागर) की रचना-प्रक्रिया बहुत ही अटपटी थी। अपने विषय को पकड़ने के लिए वह क्या-क्या कर सकते थे, कहना मुश्किल है। 'ये कोठेवालियाँ' के लिए वेश्याओं के इंटरव्यूज लेने में बाबू जी ने बनारस, लखनऊ और भी न जाने कहाँ-कहाँ के कोठे छान मारे।"

पुस्तक में नागर जी द्वारा बेटी अचला के नाम लिखे गए कुछ पत्रों का चयन भी शामिल है। अन्त में 'धर्मयुग' में प्रकाशित एक आलेख जोड़ दिया गया है जो साधारण स्तर का है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अमृतलाल नागर के जीवन और कथा-संसार के बारे में अचला नागर द्वारा लिखे गए संस्मरणों की यह पुस्तक रोचक और ज्ञानवर्धक है। कुछेक संस्मरण अत्यन्त माखमक हैं तो कुछ सपाट भी हैं। नागर जी के पाठकों के लिए ये संस्मरण उपयोगी और पठनीय हैं। लेखिका की शैली सहज और सर्जनात्मक है।

अमृतलाल नागर की बाबूजी-बेटा जी एण्ड कम्पनी.

अचला नागर, किताबघर प्रकाशन, 8/24 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2, मूल्य : 195.00 रुपये

122, दिन अपार्टमेन्ट्स, सेक्टर-4, प्लाट नं. 7, द्वारका, नई दिल्ली-110075, मो. 9810709883

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

छवि – संग्रह

यों तो किसी भी लेखक की सबसे जीवंत उपस्थिति उसकी रचना में होती है पर जैसे हम एक रचना पढ़कर दूसरी रचना खोजते या एक पुस्तक से गुज़रकर दूसरी के लिए उत्सुक अधीर होते हैं। वैसे ही हमें इच्छा होती है यह जानने की कि वह लेखक कैसा दीखता है, उसका पासपड़ोस कैसा है, वह किनकी सोहबत में रहता आया है, आदि। छवि-संग्रह के माध्यम से हमारा यत्न समकालीन मूर्धन्य लेखकों पर ऐसी सामग्री एकत्रा और विन्यस्त करना है जो एकबारगी हमें लेखक के समूचे कृतित्व, उस पर विभिन्न अभिमतों, उसके लिखे, चुने हुए अंशों, उसके अनुवादों, मित्रों, यात्राओं, पड़ोस आदि से अवगत करा दे। यह लेखक को उसकी कृतियों, उसके परिवेश और उसके टोस संदर्भ में जीवित उपस्थिति के रूप में साक्षात् करने की कोशिश है। यह एक सीरीज है जिसमें, हमें उम्मीद है, हम अनेक मूर्धन्य लेखकों को एक-एक कर उपस्थित कर सकेंगे।

अभी तक प्रकाशित छवि-संग्रह :

निर्मल वर्मा, कुँवर नारायण, कृष्णा सोबती, विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, नेमिचंद्र जैन, मनोहर श्याम जोशी नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह और त्रिलोचन

रंगमंच का सौन्दर्य : बाहर—भीतर

रणजीत साहा

ए

क मिश्रित विधा के नाते नाटक और इसके अनिवार्य अंग रंगमंच को एक वर्ग द्वारा इसकी स्वायत्तता घोषित किए जाने के बावजूद साहित्य के अनुषंग के रूप में ही देखा—पढ़ा और परखा जाता है। इसलिए इसकी पहचान ही नहीं, इसके आकलन एवं मूल्यांकन के लिए भी, साहित्य की सौंदर्यवादी अवधारणाओं को ही निकष के तौर पर स्वीकार किया जाता रहा है। लेकिन नाटक और रंगमंच को आधुनिक और गतिशील दर्शक—समाज की आकांक्षाओं से जोड़ते हुए, प्रस्तुत कृति के लेखक देवेन्द्र राज अंकुर, जो एक समादृत नाट्यालोचक और प्रतिष्ठित रंग—निर्देशक हैं, ने परम्परागत अकादमिक मानसिकता का निरोध किया है। अपनी पूर्व—स्थापना में वह यह सवाल उठाते हैं—“नाटक और रंगमंच के लिखित आलेख और उसकी प्रस्तुति का क्या कोई अलग—अलग सौन्दर्यशास्त्रा होना चाहिए अथवा दोनों के लिए एक शास्त्रा से ही काम चल सकता है? इन सारे कारणों से अलग...पहले हम रंगमंच के सौन्दर्यशास्त्रा पर एक संवाद आरम्भ करें तो ज्यादा सार्थक होगा।” (पृ. 11)

प्रस्तुत कृति में लेखक ने सात अध्यायों में—नाट्यालेख, अभिनेता की रचना—प्रक्रिया, निर्देशक, प्रेक्षागृह, दर्शक और अन्त में कुछ महत्त्वपूर्ण नाटकों (‘अभिज्ञान शाकुन्तलम्’, ‘यहूदी की लड़की’, ‘ध्रुवस्वामिनी’ और ‘आषाढ का एक दिन’) और उनकी रंग—प्रस्तुतियों का न केवल वैचारिक बल्कि व्यावहारिक ढंग से विश्लेषण किया है।

नाट्यालेख अध्याय के अन्तर्गत नाटक विधा से सम्बद्ध शिल्प और शैली को लेखक

ने अंग्रेजी के दो शब्दों—‘ड्रामा’ और ‘प्ले’ के सन्दर्भ द्वारा स्पष्ट किया है—“ड्रामा शब्द यदि नाटक के लिखित आलेख को इंगित करता है तो ‘प्ले’ उसके प्रस्तुति रूप का परिचायक है।”...इसी तरह के दो शब्द अंग्रेजी भाषा में और उपलब्ध हैं जिन्हें हम ‘फार्म’ (रूप) और ‘स्टाइल’ (शैली) के नाम से जानते हैं। इनमें अन्तर यह है कि ‘फार्म’ नाटक के लिखित आलेख के व्याकरण शिल्प अथवा संरचना का सूचक है और शैली उसके प्रस्तुति पक्ष से सम्बद्ध है। एक शब्द यदि सैद्धान्तिक है तो दूसरा व्यावहारिक।” (पृ. 31) लेखक ने संस्कृत नाटकों एवं जयशंकर प्रसाद लिखित नाटकों, जापानी शैली के ‘नोह’ और ‘काबुकी’ और रवीन्द्रनाथ के नाटकों के हवाले से ‘फार्म’ (रूप) और ‘स्टाइल’ (शैली) के उस जटिल रिश्ते को

समझाया है, जो देखने या सुनने में बड़ा सरल दिखाई पड़ता है। “कविता कितनी भी मुक्त छन्द में क्यों न हो जाए—वह गद्य का स्थान नहीं ले सकती। इसी तरह कहानी या उपन्यास को (अपनी स्वच्छन्दता के बावजूद) कविता नहीं कहा जा सकता।” (पृ. 33)

अंकुर जी ने विभिन्न साहित्य पाठ्य—क्रमों में नाटक को पढ़ने—पढ़ाने और इसकी परीक्षोपयोगी विधि और इसकी समीक्षा से जुड़ी चिरपरिचित प्रयुक्तियों और निष्कर्षों पर लगभग तरस खाते हुए—रंगमंचीय आग्रहों के साथ नाटक को और नाट्यालेख की आकांक्षा और आवश्यकता के अनुरूप रंगमंच—निर्माण पर जोर दिया है। कहना न होगा, इसमें रंगमंच के सभी तत्त्व—अभिनय, संवाद, दृश्य—विधान, रूप—रंग—सज्जा और रंगदीपन (लाइटिंग) आदि सभी का यथोचित योगदान होता है।

अभिनय को लेखक ने रंगमंच का सर्वप्रमुख, अनिवार्य और अपरिहार्य तत्त्व माना है। अरस्तू के ‘कला जीवन की अनुकृति’ से लेकर आज तक नाट्यसम्बन्धी जितने भी विचार आए हैं, वे इसी बात पर जोर देते रहे हैं कि “मंच पर अभिनेता द्वारा दर्शक के लिए जो कुछ भी प्रस्तुत किया जा रहा है, वह दर्शक के लिए तो विश्वसनीय होना ही चाहिए। उससे भी पहले वह स्वयं अभिनेता के लिए भी उतना ही विश्वसनीय होना चाहिए।” (पृ. 41) भारतीय रंग—परम्परा की अभिनय शैली एवं प्रस्तुति शैली पर विचार करते हुए शास्त्रीय यानी नागर तथा लोक यानी देसी कलाओं के आपसी ‘सिंथेसिस’ से अनजाने ही अभिनय की एक नई शैली के विकसित होने की सम्भावना को लेखक

रंगमंच
का
सौन्दर्यशास्त्र

देवेन्द्र राज अंकुर

ने रेखांकित किया है। 'यह न तो पूरी तरह शैलीबद्ध है, न पूरी तरह यथार्थवादी और किसी भी रूप में विदेशी तो है ही नहीं। क्या आज के भारतीय रंगमंच को किसी ऐसी ही अभिनय शैली एवं प्रस्तुति शैली की अपेक्षा नहीं, जो हमारी अपनी ही रंग-परम्पराओं के सहज रूप में पाई जा सके।' (पृ. 47)

अभिनेता की रचना-प्रक्रिया के अंतर्गत लेखक ने अन्य कला माध्यमों (या फिर दूसरे सृजनधर्मी रचनाकारों) की परस्पर तुलना करते हुए यह स्पष्ट किया है कि रंगमंच को छोड़कर जितने भी कला सृजनधर्मी कला माध्यम या अनुशासन हैं—विशेषकर किसी रचना या निखमति में—उसमें विचार की प्रेरणा स्वतःस्फूर्त होती है। यानी उसका जन्म सर्जक के अन्तर में सहज, अनायास और अचानक होता है, जबकि अभिनेता के साथ ऐसा नहीं होता। उसे आलेख और निर्देशक द्वारा सुनिश्चित भूमिका के बाद, अपनी रचना-प्रक्रिया को सोच-समझकर स्वीकार करना पड़ता है। लेखक को यह मानने में कोई सन्देह नहीं कि—'हम मंच पर जो कुछ भी देखते हैं, वह अन्ततः लिखित आलेख की निर्देशकीय व्याख्या का चाक्षुष प्रस्तुतीकरण ही हुआ करता है, लेकिन इसके बावजूद उस प्रस्तुति में अभिनेता के अपने निजी एवं विशेष आलेख की जबर्दस्त उपस्थिति को अनदेखा नहीं किया जा सकता।' (पृ. 65)

लेखक ने निर्देशक अध्याय के अन्तर्गत उसे सर्जक, समन्वयक, व्याख्याकार, प्रबन्धक, उत्प्रेरक आदि विविध रूपों में विश्लेषित किया है। रंगमंच अवश्य ही एक सामूहिक प्रक्रिया है और नाटक की प्रस्तुति के समय यह पूरी तरह से अभिनेताओं के नियन्त्राण में होती है। लेकिन अपनी उपस्थिति और अनुपस्थिति के बावजूद निर्देशक नाट्य-निर्माण और रचना-प्रक्रिया के दौरान अभिनेताओं पर एक दबाव और अनुशासन बनाए रखता है। यही नहीं, रंग-व्यवस्था और बेहतर प्रस्तुति का दायित्व भी उसी पर रहता है।

लेखक के नाट्य-रचना और प्रेक्षागृहों के निर्माण और उसकी अन्तःबाह्य बनावट की ऐतिहासिक सन्दर्भों में पड़ताल करते



हुए, उन 'प्रोसिनियम' मंचों, आधुनिक प्रेक्षागृहों, मुक्तमंच (फलकनुमा) लोकनाटकों और नुक्कड़ नाटकों तक फैले व्यावसायिक एवं शौकिया नाट्य मंचों पर विस्तार से चर्चा की है। इनका निर्माण व्यावहारिक अनुरोधों के चलते या कभी-कभी प्रयोग के नाते भी किया जाता रहा है। लेखक की यह अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण है कि—'जिस प्रकार प्रेक्षागृह का स्थापत्य अपने समय में लिखे जाने वाले नाटकों और शिल्प को प्रभावित करता है उसी प्रकार मंचन किस प्रदर्शन-स्थल पर किया जा रहा है, यह तथ्य भी नाटक की प्रस्तुति शैली को निर्धारित कर देता है।' (पृ. 114) बादल सरकार, कावलम नारायण पणिकर, हबीब तनवीर और रतन थियम जैसे निर्देशकों ने बार-बार नाट्यमंच-संरचना को बदला और सँवारा है। आज के प्रेक्षागृह (चौकोर, आयताकार, वृत्ताकार या मुक्ताकाश मंच) ने उस भौगोलिक और मानसिक 'स्पेस' की अनिवार्यता को दर्शक से सीधे जोड़ने का उपक्रम किया है—जिससे आलेख, अभिनेता और अभिनय में निहित मौन, विराम और अस्फुट कथन या संकेत को भी नया अर्थ सन्दर्भ प्राप्त हो सके।

इसी तरह, दर्शक के बारे में चर्चा करते हुए लेखक का मानना है कि दर्शक में अभिनेता से कहीं अधिक सहृदयता होनी चाहिए ताकि वह नाटक में घटित स्थितियों, सम्बन्धों तथा चरित्रों के आपसी तनाव को देखकर अपने अन्दर सुकून और शान्ति महसूस करे। साथ ही, सोच की दिशा में भी सक्रिय हो। प्रकारान्तर से, दर्शक के

पाठक जैसी सहृदयता (एवं सदाशयता) की अपेक्षा की गई है। लेखक ने इसे एक शुभ संकेत माना है कि कल का "जो दर्शक कुछ दिनों के लिए बेशक इन यान्त्रिक माध्यमों की चकाचौंध से अभिभूत हो गया था वह आज पुनः रंगमंच की उसी मूल प्रकृति की ओर लौट रहा है और वह है जीवंत दर्शक की उपस्थिति में एक जीवंत अभिनेता के अभिनय को देखने और अनुभूत करने का आनन्द। अभिनेता और दर्शकों के बीच चलती यह दोहरी प्रक्रिया रंगमंच की अपनी निजी सम्पत्ति है और जब तक मनुष्य नाम का प्राणी इस धरती पर मौजूद है, रंगमंच भी जीवित रहेगा।' (पृ. 123)

अन्तिम अध्याय में इस तथ्य बल्कि सत्य की ओर ध्यान दिलाया गया है कि नाटक को पहले एक साहित्यिक कृति के नाते और फिर अपनी प्रस्तुति में भी, इन्हीं मूल्यों और प्रतिमानों पर कसा जाना होता है। साथ ही कक्षाओं में नाटक के पठन-पाठन की पद्धति को विकसित करने पर जोर देते हुए, उसकी लय और गति, ध्वनि और संगीत और उसकी सम्भावित शैली को आयत्त किया जा सकता है। लेखक ने 'अन्धेर नगरी', 'अभिज्ञान शाकुंतलम्', 'यहूदी की लड़की', 'ध्रुवस्वामिनी' और 'आषाढ़ का एक दिन' नाटकों के मंचन, दृश्यबन्ध, मंच-व्यवस्था, पात्रा-चित्रण, संवाद-अदायगी तथा स्थान-समय और कार्य-व्यापार की अद्भुत समन्वित पर गहराई से विचार किया है।

आज हिंदी रंगमंच जिस तरह विभिन्न रंगशैलियों की पुनर्प्रस्तुति द्वारा अपना पुनराविष्कार कर रहा है, वह सचमुच श्लाघनीय है। लेखक ने उन समस्त नये रंगकखमयों, पाठकों, दर्शकों और समीक्षकों का न केवल आह्वान किया है बल्कि उन्हें यह कृति भी समखपत की है जो रंगमंच के सौन्दर्य-शास्त्रा को तैयार करने में एकजुट हैं।

रंगमंच का सौन्दर्यशास्त्र / देवेन्द्रराज अंकुर / राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : 200.00 रुपये

भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू वि.वि., नई दिल्ली-110067, मो. 9811262257

प्रेमचन्द का पहला उपन्यास: 'दुर्गादास'

भवदेव पाण्डेय

दु

गर्गादास' प्रेमचन्द का पहला उपन्यास है जो सन् 1914-1915 में पहली बार सचित्रा प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास मुख्यतः स्कूलों में पढ़ने वाले बालक-बालिकाओं के लिए लिखा गया था। अपने इस उपन्यास द्वारा प्रेमचन्द तद्युगीन बालक-बालिकाओं के मन में स्वामिभक्ति और देशप्रेम का भाव जगाना चाहते थे। और वे इसमें पर्याप्त सफल भी हुए।

संयोग ऐसा हुआ कि 'दुर्गादास' के प्रकाशन की दूसरी आवृत्ति नहीं हो पाई जिसके फलस्वरूप वह आज तक सन् 1914-1915 की स्थिति में ही पड़ा हुआ है। यह भी आश्चर्य की बात है कि प्रेमचन्द के इस उपन्यास का लोग नाम तक नहीं जानते हैं। (यह उपन्यास अब भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, द्वारा शीघ्र प्रकाश्य है।)

प्रेमचन्द ने मूलतः 'दुर्गादास' उर्दू-लिपि में लिखा था जिसका हिंदीकरण प्रेमचन्द के घनिष्ठ मित्रा जगत शंखधर ने किया। जब प्रेमचन्द कानपुर या हमीरपुर (राठ) में रहते थे तब शंखधर जी अभिभावक के रूप में प्रेमचन्द के घर जाया करते थे। उर्दू से हिंदी अनुवाद करके शंखधर ने हिंदी पाठकों को अच्छा उपहार दिया है।

'दुर्गादास' की भूमिका प्रेमचन्द ने स्वयं लिखी है जो अविकल रूप में नीचे दी जा रही है।

'बालकों के लिए राष्ट्र के सपूतों से बढ़कर उपयोगी, साहित्य का कोई दूसरा अंग नहीं है। इससे उनका चरित्र ही बलवान नहीं होता, उनमें राष्ट्रप्रेम और साहस का

संचार भी होता है। राजपुताना में बड़े-बड़े शूरवीर हो गये हैं। उस मरुभूमि ने कितने ही नर-रत्नों को जन्म दिया है पर वीर दुर्गादास अपने अनुपम आत्म-त्याग, अपनी निःस्वार्थ सेवा भक्ति और अपने उज्ज्वल चरित्रा के लिए कोहनूर के समान हैं। औरों में शौर्य के साथ कहीं-कहीं हिंसा और द्वेष का भाव भी पाया जाएगा, कीखत का मोह भी होगा, अभिमान भी होगा, पर दुर्गादास शूर होकर भी साधु था। इन्हीं कारणों से हमने वीर-रत्न दुर्गादास का चरित्रा बालकों के सामने रखा है।

हमने चेष्टा की है कि पुस्तक की भाषा सरल और बामुहावरा हो और उसमें बालकों की रुचि उत्पन्न हो। (प्रेमचन्द)

भूमिका के बाद प्रेमचन्द ने दुर्गादास की अनुक्रमणिका दी है। पहला परिच्छेद पृ. 1, दूसरा पृ. 7, तीसरा प्र. 12, चौथा पृ. 25, पाँचवाँ पृ. 35 और छठवाँ पृ. 64।

प्रेमचन्द को पढ़ने वाले पाठक जानते हैं कि उन्होंने उपन्यासों और कहानियों में परिच्छेद देने की नई शैली को जन्म दिया, प्रायः तारतम्यता और बिलगाव की पाठकीय माँग को उन्होंने मनोवैज्ञानिक ढंग से पूरा किया। प्रेमचन्द जैसा अन्वय तथा व्यतिरेक का ज्ञाता द्विवेदी युग में कोई दूसरा नहीं था। दुर्गादास में उनके इस प्रयोग-चातुर्य के उदाहरण अप्राप्य नहीं हैं।

ऐसा ज्ञात होता है कि दिल्ली और राजस्थान के एक दो प्रकाशनों ने दुर्गादास का प्रकाशन बिना चित्रा के साथ किया था, परन्तु वे इसका वितरण ठीक ढंग से नहीं कर पाए थे। यह दुर्गादास अब सचित्रा दिया जा रहा है। पहला परिच्छेद शुरू होने के पहले घोड़सवार 'दुर्गादास' का चित्रा। दूसरा

चित्रा पृ. 64 और 65 के बीच में, छठवाँ परिच्छेद के तत्काल बाद।

दुर्गादास एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसके पात्रा, स्थान, स्थानों के बीच की दूरियाँ सभी भौगोलिक और ऐतिहासिक। उदाहरण के लिए पृ. 80 से एक मिसाल ली जा सकती है। मुहम्मद ख़ाँ ने कहा। भाई दुर्गादास ने जो कुछ किया, अच्छा ही किया। मुहम्मद ख़ाँ और दुर्गादास ऐतिहासिक चरित्रा हैं।

उक्त बातें दुर्गादास के सन्दर्भ में कही गई हैं। अब दुर्गादास के रचनाकार के बारे में कुछ जानना जरूरी है।

सन्दर्भ ऐसे मिलते हैं कि प्रेमचन्द ने 'दुर्गादास' उपन्यास का लेखन सन् 1910 में किसी समय किया था और सन् 1915 तक इसका प्रकाशन करवा दिया। दुःयोगवश प्रेमचन्द ने न प्रकाशन का नाम दिया और न भूमिका लेखन की तारीख दी। अनुमान है कि धनपत राय अथवा नवाब राय को प्रेमचन्द नाम 'जमाना' पत्रिका के सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम ने दिया। निगम साहब जमाना का सम्पादन-प्रकाशन और मुद्रण कानपुर से करते थे। उन्होंने ही अपने मुद्रणालय से 'सोजे वतन' कहानी-संग्रह छापा था। 'सोजे वतन' में प्रकाशन का नाम नहीं दिया गया।

उस में एक कहानी थी 'दुनिया का अनमोल रतन'। कानुपर के अँग्रेज प्रशासकों को लगा कि यह अँग्रेजी सरकार के विद्रोह में लिखा गया है। कुछ कहानियों के लेखक धनपत राय और कुछ के लेखक नवाब राय हैं। जिला कानपुर कलेक्टर ने लेखकों का पता लगाने के लिए सी.आई.डी. पुलिस लगा दिया। सी.आई.डी. के रिपोर्ट से ज्ञात हुआ

कि धनपत राय और नवाब राय एक ही व्यक्ति हैं और ऊपर से सरकारी मुलाजिम भी हैं।

उसी रात 'जम्हाना' छापेखाने पर धावा पड़ा और 'सोजे वतन' की सारी प्रतियाँ जप्त कर ली गईं। संयोग से दो-चार प्रतियाँ जो बाहर चली गई थीं, मात्रा वे ही बचीं, जो भारतीय आजषदी के बाद काम आईं और जष्टशुदा लेखन के तहत प्रकाशित की गईं।

धनपत राय (प्रेमचन्द) उस समय अँग्रेजी मद्रसों के छोटे इन्सपेक्टर थे। इन्हें कानपुर के कलेक्टर के सामने पेश किया गया और कुछ धमकियों के बाद कहा गया कि अब से जो भी लेखन करोगे पहले कलेक्टर बहादुर को दिखलाओगे और आज्ञा मिलने के बाद ही शायी कराओगे। इस आदेश के साथ ही इनका तबादला हमीरपुर (राठ) कर दिया गया।

धनपतराय के ऊपर मानो बज्रपात हो गया। वे उसी दिन देर शाम 'जम्हाना' के प्रकाशक मुंशी दयानारायण निगम के पास गए और अपनी सारी पीड़ा उड़ेल कर रख दी। निगम साहब ने सांत्वना दी और सलाह दिया कि वे 'प्रेमचन्द' के नाम से लिखें। निगम की सलाह धनपत राय को अच्छी लगी और इस नाम से जो पहला लेखन किया उसको नाम दिया 'दुर्गादास' 'एक लघु उपन्यास'।

ये कुछ ऐसे कारण हैं जिनसे दुर्गादास प्रेमचन्द की पहचान का उपन्यास है। नवाब राय या धनपत राय एक लम्बे संघर्ष के बाद 'प्रेमचन्द' बने थे। यह लम्बा संघर्ष चुनार के रिफार्मटरी स्कूल में टीचर होने से लेकर दुर्गादास-लेखन तक का है। वे सन् 1899 में रिफार्मटरी स्कूल के अध्यापक हुए थे।

नवाब राय द्वारा चुनार-किले के सुधारगृह बंदियों को पढ़ाने की कहानी भी दिलचस्प है। यानी जाड़े का मौसम था। नवाब राय और घर के लोग कई दिनों से भूखे थे। पैसे का कोई प्रबन्ध नहीं हो पा रहा था। अन्ततः वे गणित की चक्रवर्ती किताब बेचने के लिए किताब विक्रेता के यहाँ गए। जो किताब उन्होंने दो रुपये में खरीदी थी, उसको एक रुपया में बेचकर घर जाने लगे। यह संयोग की ही बात है



कि उस समय दुकान पर लम्बी-लम्बी मूछों वाले एक सज्जन बैठे थे। जब नवाब राय बाहर निकलने लगे तो लम्बी मूछों वाले सज्जन ने दरयाप्त किया कि वे किसी कक्षा में पढ़ते थे। जब नवाब राय ने यह उत्तर दिया कि मैट्रीक्यूलेशन पास युवक थे, तब मूछों वाले सज्जन बहुत खुश हुए और नवाब राय से रिफार्मटरी स्कूल में टीचर होने का प्रस्ताव रखा। अठारह रुपये प्रतिमास पर। नवाब राय का दिल खुशी से लबरेज हो उठा। चुनार आए। पदभार सम्भाला। उस समय नवाब राय हिंदी में 'प्लेग की चुड़ैल' कहानी लिखने वाले मास्टर भगवान दास के यहाँ तीन रुपये मासिक पर ऊपर वाली कच्ची कोठरी में रहने लगे। मास्टर भगवान दास इनसे काफी सीनियर थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'अपने इतिहास में' हिंदी की आरम्भिक कहानी लिखने वालों में 'इंदुमती' और गुलबहार (किशोरीलाल के बाद) मास्टर भगवान दास की कहानी का उल्लेख किया है। नवाब राय पर मास्टर भगवानदास के लेखकीय व्यक्तित्व का काफी प्रभाव पड़ा था। नवाब राय खुद तो लिखते नहीं थे, परन्तु पढ़ते अवश्य थे। हिंदी तो आती नहीं थी, फिर उर्दू में ही सही। मास्टर भगवान दास उर्दू-अँग्रेजी के अच्छे ज्ञाता थे। नवाब राय भी उर्दू-अँग्रेजी के जानकार। इस तरह

चुनार में एक-एक दिन बीत रहे थे।

लेकिन नवाब राय का चुनार छूटना ही था। छूट भी गया एक साधारण संयोग के कारण।

एक दिन किले के सुधारगृह में पढ़ने वाले काले कैदियों और चुनार के गोरे खिलाड़ियों के बीच फुटबाल मैच हुआ। काले कैदी खिलाड़ी बीस पड़े। जीत दर्ज की और 'हिप-हिप हुर्र' के नारे लगाने लगे। एक गोरे खिलाड़ी ने अपने बूट की नोक से काले खिलाड़ियों के टीम-मुखिया को मार दिया। नवाब राय इस अन्याय को बर्दाश्त नहीं कर सके। वे मैदान में जाकर गोरे खिलाड़ी को एक डण्डी से मार बैठे।

परिणाम अज्ञात नहीं था। इन्हें रिफार्मटरी स्कूल से निकाल दिया गया। वे फिर बनारस चले गए। नवाब राय अब नवाब नहीं रह सके। इसी बीच

इनकी मुलाकात क्वींस कॉलेज के प्रिंसिपल बेकन साहब से हुई। वे नवाब राय की जहानत से बहुत प्रभावित हुए। इनकी ईमानदारी भी बहुत महशूर हुई। हालाँकि शरीर दुबला-पतला परन्तु आत्मा नवाबराय की हिम्मत-सी। फिर तो क्या था, बेकन साहब ने इन्हें बहराइच सरकारी स्कूल में भेज दिया। इन्होंने 12 जुलाई सन् 1900 को बहराइच ज्वाइन किया।

बहराइच में काम करते हुए केवल ढाई महीने ही गुजरे थे कि इनका ट्रान्सफर इलाहाबाद जिला की तहसील प्रतापगढ़ में कर दिया गया। 21 सितम्बर 1900 को इन्होंने फर्स्ट एडिशनल मास्टर का पद सम्भाला। इन्होंने इलाहाबाद में अपना दायित्व निभाते हुए टीचर्स ट्रेनिंग सनद हासिल किया। टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज में टाप करते हुए, इन्हें यह छूट दी गई कि वे अपनी इच्छा से जिला का चुनाव करें। यही वह सुखद समय था जब 'जम्हाना' के सम्पादक दयानारायण निगम से इनका पत्रा-व्यवहार शुरू हुआ। मई 1905 में इनका ट्रान्सफर कानपुर कर दिया गया। आगे का हवाल दुर्गादास उपन्यास के सन्दर्भ में पहले ही बयां कर दिया गया।

प्रेमधन मार्ग, मीरजापुर (उ.प्र.), मो. 9415928434

बंगमहिला की पुस्तक 'कुसुम संग्रह' और स्त्री-शिक्षा

भारत यायावर

अ

पने पुरखों के पास जाना और अपने कोठार में जो 'शब्द-मोती' उन्होंने जमा कर रखे हैं, वहाँ से लाना। मामूली बात नहीं है। इसके लिए कभी पर्वतों पर चढ़ना पड़ता

है, कभी दुर्गम घाटियों में उतरना पड़ता है। कभी पाँव-पैदल रेगिस्तानी इलाकों से गुजरना पड़ता है। गर्दो-गुब्बार से अटे पड़े पोथियों के अक्षरों को पढ़ने के क्रम में बीमार भी हो जाना पड़ता है, तब जाकर कोई राहुल सांकृत्यायन हो पाता है या रामविलास शर्मा। भवदेव पाण्डेय जैसे कुछ ही खुशनसीब लोग हैं, जिनके मिरजापुर में हिंदी के साधकों ने अपना अमूल्य खजाना छोड़ रखा है और जिसका अवगाहन कर वे लगातार हिंदी के भण्डार भर रहे हैं।

'पुरखों के कोठार से साहित्य के बासी प्रसंगों को या लुप्त-प्राय अपनी थाती को जब हम पुनः प्रस्तुत करते हैं तो उसमें तिथियों को लेकर अनुमानित बातें रखने की जगह तथ्यों के ठोस सबूत प्रस्तुत करना आवश्यक होता है लेकिन भवदेव पाण्डेय हड़बड़ी में या जल्दबाजी में ऐसा ही करते हैं। उदाहरण के तौर पर 'पुस्तक-वार्ता' (अंक 24) में उनका खोजपूर्ण निबन्ध 'रेवरेंड एडविन ग्रीव्स से उग्र तक की रचनात्मक विरासत' इतना महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प बन पड़ा है, किन्तु उन्होंने तिथियों को प्रायः अनुमानित तौर पर लिखा है, जिस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। चूँकि ये बातें अब इतिहास की हैं और इतिहास की भीति तिथियों तथा ठोस तथ्यों की ईंटों से ही निखरत होती हैं। भवदेव जी लिखते हैं '1873-74 में प्रेमघन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मिलने बनारस गए।' अब प्रश्न

उठता है '1873 या 1874 और इन दोनों ईसवीं में प्रेमघन 16-17 साल के कैसे थे? फिर रामचन्द्र शुक्ल 1907-08 में बनारस चले गए। बंगमहिला की पुस्तक रामचन्द्र शुक्ल के सम्पादन में 1910 ई. में प्रकाशित हुई। क्या यह बात सही है? बंगमहिला की पुस्तक 'कुसुम संग्रह' का प्रथम संस्करण 1912 ई. में प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक की भूमिका 28 नवम्बर, 1910 ई. को बंगमहिला ने लिखी थी और रामचन्द्र शुक्ल ने इसकी सम्पादकीय भूमिका 10 सितम्बर 1911 ई. को लिखी थी तथा इस पुस्तक का प्रकाशन जैसा कि पहले बताया गया 1912 ई. में हुआ था। इस पुस्तक को प्रकाशित करने वाले थे राय कृष्णदास, जिन्होंने 'भारतेन्दु-स्मारक-ग्रन्थ-मालिका' के प्रथम रत्न के रूप में इसका प्रकाशन किया था और इण्डियन प्रेस से इसका मुद्रण करवाया था। राय कृष्णदास ने महावीर प्रसाद द्विवेदी को इस पुस्तक की समालोचना करने के लिए भेजा था। 1912 ई. में आचार्य द्विवेदी की पत्नी की आकस्मिक मृत्यु हो गई थी, जिसके कारण वे व्यथित मनःस्थिति में रह रहे थे, उन्होंने 'कुसुम-संग्रह' की समीक्षा लिखने में असमर्थता प्रकट की। इस पर कृष्णदास ने यह महसूस किया कि उन्हें कुछ बातें अप्रिय लगीं, इसलिए आचार्य द्विवेदी ने समीक्षा नहीं लिखी। (इस सन्दर्भ के लिए देखें 'महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली का 14वां खण्ड, पृ. 354)

भवदेव पाण्डेय ने लिखा है 'कुसुम-संग्रह में नारी-मुक्ति के लिए लेख छपे। वैसे लेख बनारस में नदारद थे। मसलन 1906 ई. में स्त्रियों की शिक्षा, 1908 में हमारे देश में स्त्रियों की दशा जैसे लेखों से उत्तर भारतीय संभाग में नया बवंडर खड़ा हुआ। बंगमहिला

का विरोध हुआ। यहाँ तक कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और सरस्वती के साधक महावीर प्रसाद द्विवेदी तक ने बंगमहिला के नारी-मुक्ति का लिखित विरोध किया। जिस रामचन्द्र शुक्ल ने पुस्तक का सम्पादन किया उन्होंने भी पाद टिप्पणी में लिख दिया कि जो शिक्षा नारी को मेम बना दे उस शिक्षा का मैं विरोधी हूँ। इसी प्रकार जिस महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बंगमहिला की अधिकतर रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित कीं, उन्होंने एक महिला द्वारा उनका लिखित विरोध कराया।'

अब यहाँ देखें कि भवदेव पाण्डेय ने आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी को दकियानूस और रूढ़िवादी सिद्ध कर दिया। इन दोनों आचार्यों ने बंगमहिला का लिखित विरोध किया, फिर लिखते हैं कि आचार्य द्विवेदी ने एक महिला द्वारा लिखित विरोध कराया। ये बातें कितनी असंगत हैं। सबसे पहले यह ध्यान रखना चाहिए कि आचार्य द्विवेदी आचार्य शुक्ल से बीस वर्ष बड़े थे, इसलिए पहले उनका नाम लेना चाहिए। ये दोनों आचार्य अपने युग के अनुरूप ही मानसिकता रखते थे और बंगमहिला भी भारतीय नारी के 'मेम' या 'स्वच्छन्द' हो जाने की हिमायती नहीं थीं। याद कीजिए कि प्रेमचन्द ने भी गोदान में लिखा है कि जब नारी में पुरुष का स्वभाव आ जाए तो वह कुल्टा हो जाती है। ये दोनों आचार्य भारतीय संस्कृति के संवाहक थे और स्त्री-शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। अगर इनका समर्थन बंगमहिला को नहीं मिलता तो उनकी रचनाओं पर लिखकर आज भवदेव पाण्डेय को जो यश मिला है, वह नहीं मिलता। मेरी शिकायत यह है कि हिंदी भाषा और साहित्य के निर्माताओं के विषय में ऐसी उल्टी बातें नहीं लिखनी चाहिए।

आचार्य द्विवेदी ने स्त्री-शिक्षा के पक्ष में कितना संघर्ष किया था इसे जानने के लिए उनकी रचनावली के खण्ड सात में उनके लिखे हुए कुछ लेखों के अध्ययन से ही इसका पता चल जाता है। इस खण्ड के सम्पादकीय का एक अंश यहाँ बानगी के तौर पर प्रस्तुत है।

‘स्त्री-शिक्षा की आलोचना’ में द्विवेदी जी संयुक्त प्रान्त में स्त्री-शिक्षा की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। इसके प्रारम्भ में वे बताते हैं कि स्त्रियों को शिक्षा अवश्य ही देनी चाहिए।...पर द्विवेदी जी के समय में कई ऐसे पढ़े-लिखे पण्डित थे, जो स्त्री-शिक्षा के विरोधी थे। उनके तर्कों का खण्डन करते हुए द्विवेदी जी ने ‘सरस्वती’ में एक तीव्र आलोचनात्मक निबन्ध लिखा।...पढ़े-लिखों का पाण्डित्य।...इसके प्रारम्भ में वे लिखते हैं। “बड़े शौक की बात है, आजकल भी ऐसे लोग विद्यमान हैं जो स्त्रियों को पढ़ाना उनके और गृह-सुख के नाश का कारण समझते हैं। और लोग भी ऐसे-वैसे नहीं, सुशिक्षित लोग। ऐसे लोग जिन्होंने बड़े-बड़े स्कूलों और कॉलेजों में भी शिक्षा पाई है।”...जब ऐसे लोग स्त्री-शिक्षा के विरोधी प्राचीन साहित्य का आधार लेकर कुतर्क प्रस्तुत करते हैं, तब द्विवेदी जी उन्हें इस निबन्ध में प्राचीन साहित्य के आधार पर ही उत्तर देते हैं और स्त्री-शिक्षा के पक्ष में जोरदार तर्क देते हैं। वे ऐसे पढ़े-लिखे पुरुषों के पाण्डित्य पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं। “अत्रिा की पत्नी पत्नी-धर्म पर ब्याख्यान देते समय घण्टों पाण्डित्य प्रकट करे, गार्गी बड़े-बड़े ब्रह्मवादियों को हरा दे, मण्डन मिश्र की सह-धर्मचारिणी शंकराचार्य के छक्के छुड़ा दे! गजब! इससे भयंकर बात और क्या हो सकेगी! यह सब पापी पढ़ने का अपराध है। वे न पढ़तीं, न वे पूजनीय पुरुषों का मुकाबला करतीं। यह सारा दुराचार स्त्रियों को पढ़ाने ही का कुफल है। समझे! एम.ए., बी.ए., शास्त्री और आचार्य होकर पुरुष जो स्त्रियों पर हण्टर फटकराते हैं और डण्डों से उनकी खबर लेते हैं, वह सारा ‘सदाचार’ पुरुषों की पढ़ाई का ‘सुफल’ है। स्त्रियों के लिए पढ़ना कालकूट और पुरुषों के लिए पीयूष की घूँट! ऐसी ही दलीलों और दृष्टान्तों के आधार पर कुछ लोग स्त्रियों को अपढ़ रखकर भारतवर्ष का गौरव बढ़ाना

चाहते हैं!” द्विवेदी जी का मानना था कि शिक्षा हर पुरुष एवं हर स्त्री के लिए जरूरी है और जब तक देश का जन-जन पूर्ण शिक्षित नहीं हो जाता, देश का विकास होना असम्भव है। उस समय के लोग स्त्रियों को घर से बाहर निकलने देना भी घोर पाप समझते थे। इसीलिए वे प्राचीन भारत की विदुषी महिलाओं का जिक्र करते हैं और पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों की शिक्षा पर भी बल देते हैं।

अब ‘कुसुम-संग्रह’ में संकलित बंग महिला के निबन्ध ‘स्त्रियों की शिक्षा’ की प्रारम्भिक इन पंक्तियों को देखिए। “इस प्रान्त में स्त्री-शिक्षा का पूरा अभाव है। यद्यपि भले घर की दो-चार स्त्रियाँ कुछ पढ़ना-लिखना जानती हैं, किन्तु न जानने वाली स्त्रियों की संख्या कहीं अधिक है। मैं विद्यालय की उच्च उपाधियों को पाने की बात नहीं कहती। परन्तु कुछ थोड़ी-सी शिक्षा तो साधारण स्त्रियों को अवश्य ही मिलनी चाहिए। कोई-कोई स्त्री-शिक्षा के विरोधी कहेंगे कि स्त्रियाँ पढ़ने-लिखने से मेम साहिबा बन जाएँगी, तो घर के कामकाज कौन करेगा? कोई कहेंगे कि स्त्रियाँ पढ़कर क्या करेंगी? क्या उन्हें धनोपार्जन करना है? कोई तीसरे महाशय कह बैठेंगे कि पढ़ने से तो स्त्रियाँ निर्लज्ज हो जाएँगी? परन्तु विचार-पूर्वक देखने से ये सब युक्तियाँ मिथ्या निकलेंगी। अनेक विषयों की शिक्षाप्रद पुस्तकें पढ़ने से तो और भी भली-भाँति घर के कामकाज सम्भाल सकेंगी। यदि धन कमाने के लिए ही विद्या सिखलाना है, तो धनवान पुरुष क्यों विद्योपार्जन करते हैं? शिक्षिता होने से लज्जाहीनता हो जाने का कोई कारण नहीं?”

बंगमहिला की इस बात से सहमति प्रकट करते हुए रामचन्द्र शुक्ल ने टिप्पणी की है। “जो शिक्षा स्त्रियों को मेम या निर्लज्ज बना दे वह शिक्षा नहीं वरन् कुशिक्षा है। स्त्री-शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है नम्र, सलज्ज और शान्त बनाना, गृहकार्यों में दक्ष करना। साथ ही उचित और अनुचित का ज्ञान पैदा करना। जो शिक्षा निर्लज्ज बनाती है उसके हम विरोधी हैं।”

अब देखें कि आचार्य द्विवेदी, आचार्य शुक्ल और बंगमहिला स्त्री-शिक्षा के प्रश्न पर एकमत हैं और इनमें विरोधी भाव नहीं है। बंगमहिला भी भारतीय स्त्रियों के मेम या

निर्लज्ज बन जाने के पक्ष में नहीं हैं। लेकिन भवदेव पाण्डेय ने राजेन्द्र यादव जैसे उन्मुक्त यौन-सम्बन्धों के पक्षधर लेखकों की पंक्ति में खड़े होकर द्विवेदी और शुक्ल जैसे प्रगतिशील साहित्य-मनीषियों को रूढ़िवादी और दकियानूस सिद्ध करते हुए बंगमहिला को नारी-मुक्ति का शंखनाद करने वाली लेखिका सिद्ध कर दिया। मिरजापुरी पाण्डेय जी को उन्हीं के जिले के आदि गद्य-लेखक सदासुखलाल की ये पंक्तियाँ याद रखनी चाहिए। “जो क्रिया उत्तम होती तो सौ वर्ष में चाण्डाल से ब्राह्मण हुआ और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो तुरन्त ही ब्राह्मण से चाण्डाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से लोग हमें नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य हो उसे कहना चाहिए, कोई बुरा माने के भला माने।” सदासुख लाल (1756-1824) ने मिरजापुर जिले के चुनार में रहकर ‘सुखसागर’ की रचना की थी। उनकी ‘क्रिया’ वस्तुतः ‘कर्म’ है और उसी पर मनुष्य का आदर-मान और पतन निर्भर करता है। जो बात सत्य हो उसे कहना ही किसी लेखक की विश्वसनीयता को स्थापित करता है।

बंगमहिला जिस समय में हुई, उस समय किसी भारतीय स्त्री का ‘लेखक’ होना ही अपने-आप में एक बड़ी बात थी। फिर उन्हें इतना आधुनिक बना देना कि वे नारी-मुक्ति का अग्रदूत लगे, बिल्कुल असंगत बात है। इस सन्दर्भ में आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रथम युग-पुरुष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के विचारों को भी देख लेना अप्रासंगिक नहीं होगा। भारतेन्दु का मत था। “नारी नर सम होय।” उन्होंने 1881 ई. में ‘नीलदेवी’ नामक एक गीत-रूपक लिखा था, जिसकी प्रस्तावना का शीर्षक है : ‘मातृ भगिनी सखी तुल्या आर्य ललना गण!’ इसमें वे भारतीय स्त्रियों को सम्बोधित कर लिखते हैं :

“जब मुझे अंग्रेजी रमणी लोग भेद-सिंचित केश राशि, कृतम कुन्तलजूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से भूषित क्षीण कटि-देश कसे, निज-निज पतिगण के साथ, प्रसन्नवदन झुंझ-से-उधर फर-फर करती पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुख का कारण होती है। इससे

यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गोरंगी युवती समूह की भाँति हमारी कुललक्ष्मी गणा भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें; किन्तु और बातों में जिस भाँति अँग्रेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का कामकाज सम्हालती हैं, अपने सन्तान गण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं।...

पुराने लेखकों के विचार अपने समय के अनुरूप, किन्तु प्रगतिशील थे। उन्होंने अपने समय और समाज को आगे बढ़ाने के लिए ही अपने को जितना बदलना चाहिए, उससे ज्यादा बदला और आगे बढ़ने के लिए मार्ग बनाया। इसलिए ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही उनकी बातों को समझना होगा। रामचन्द्र शुक्ल ने जब 10 सितम्बर, 1911 ई. को बंगमहिला की पुस्तक 'कुसुम संग्रह' की सम्पादकीय भूमिका लिखी तो सबसे पहले युग-निर्माता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को याद करते हुए उनके ऐतिहासिक महत्त्व को प्रतिपादित किया। रामचन्द्र शुक्ल के इन शब्दों को ध्यान से पढ़ने और गुनने की आवश्यकता है। वे लिखते हैं□

“आज से 50 वर्ष पहले हमारी स्थिति बड़ी बेढब हो रही थी। हमारे चिरपोषित साहित्य से हमारा नाता टूटने पर था। हमारे राजनैतिक जीवन से तो हमारी भाषा टोडरमल की कृपा से मुसलमानों ही के समय में अलग हो चुकी थी। इधर जब अँग्रेजों का प्रकाश हम पर पड़ा और हमें संसार की गति का ज्ञान हुआ तब हम सामयिक प्रवाह की ओर एक विदेशी भाषा के सहारे पर दौड़ पड़े। हमारा साहित्य जहाँ का तहाँ छूटा जाता था, इसी बीच में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने उसे उठाकर सशक्त किया और हमारे साथ उसे फिर लगा दिया। जिन-जिन मार्गों पर हमारे विचार जा रहे थे उनकी ओर हमारे साहित्य को बड़ी सफाई के साथ उन्होंने मोड़ दिया। किसी जाति का साहित्य जब बराबर उसके विचारों और व्यापारों के साथ लगा हुआ चला चलता है तभी जीवित रह सकता है। अतः भारतेन्दु ने हिंदी को बड़ी बुरी दशा में पड़ने से बचाया। यदि कहीं हमारे साहित्य का हमसे वियोग हो जाता, जिसके सब सामान इकट्ठा थे, तो क्या हम सभ्य संसार में अपना



मुँह दिखाने लायक रह जाते? सोचिए तो कि हिंदी भाषा और उत्तरीय क्या राष्ट्र भाषा के नाते सारे भारत पर इनका कितना उपकार है। आज जो हम लोग नए-नये विचारों को मंजी हुई भाषा में प्रकट करते और चारों ओर हिंदी-पुस्तकों और पत्रों को उमड़ते देखते हैं वह इन्हीं की बंदौलत। हिंदी को उन्नति के आधुनिक मार्ग पर लाकर खड़ा करने वाले यही थे। अब हमें चाहिए कि राजनीति, विज्ञान, दर्शन, कला आदि के जो-जो भाव हम अपनी संसार-यात्रा में प्राप्त करते जाएँ उन्हें अपनी मातृभाषा हिंदी को बराबर सौंपते जाएँ क्योंकि यही उन्हें हमारी भावी सन्तति के लिए संचित रखेगी। साथ ही हमारा यह भी कर्तव्य है कि उस महात्मा का जिसका यह उपदेश था□

“विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।

सब देशन सों लै करहु, भाषा माहिं प्रचारहु”

न भूलें और न भरसक किसी को भूलने दें। संसार के समस्त सभ्य देशों में महान् पुरुषों की स्मृति को जागृत रखना सच्चे लोकोपकारी कार्यों की उत्तेजना का एक साधन समझा जाता है। महात्माओं के जीवन को तो स्वार्थ स्पर्श कर ही नहीं सकता। अतः उनका जो कुछ आदर किया जाता है

उससे उनका कोई उपकार नहीं बल्कि समाज का उपकार होता है। उनके जीवनोपरान्त भी यदि उनका स्मरण किया जाता है तो उससे लोक का बहुत कुछ भला हो जाता है। यह बात यूरोप वालों के मन में अच्छी तरह बैठ गई है। वे अपने प्रतिभा-सम्पन्न कवियों और ग्रन्थकारों का स्मरण कराते रहने के लिए अनेक युक्तियाँ रचा करते हैं। उनकी जयन्तियाँ मनाई जाती हैं, उनके नाम पर क्लब और पुस्तकालय चलते हैं और पुस्तकमालाएँ निकलती हैं। लज्जा की बात तो है पर कहना ही पड़ता है कि हम भारतवासियों में इस प्रवृत्ति का अभाव है। यदि हम अपने साहित्य-संचालकों का उचित आदर नहीं करते हैं तो संसार को यह कहने में संकोच नहीं कि हमने अभी तक विद्या की शक्ति को नहीं समझा है और हम झूठी तड़क-भड़क के श्रद्धालु बने हुए हैं। हम भारतवासी बहुत-कुछ ऊँचा-नीचा देख चुके। अब हमें सच्चे पुरुष-रत्नों की परख होनी चाहिए। अब हमें उनके आदर करने का फल और माहात्म्य समझना चाहिए।

यों तो वर्तमान हिंदी में जो कुछ देखा जाता है वह भारतेन्दु की ही प्रभा का स्मारक है। पर किसी वस्तु को निखदष्ट किए बिना जी भी नहीं मानता। जिस कार्य के लिए किसी महान् पुरुष ने प्रयत्न किया हो उसमें प्रकृत होकर उसे आगे बढ़ाना ही उसका सच्चा स्मरण करना है। अतः जिस वृक्ष को भारतेन्दु लगा गए उसके पत्रा-पुष्प से बढ़कर उनका और क्या स्मारक हो सकता है। यही विचार कर यह ग्रन्थमालिका आप लोगों के आगे रखी जाती है। इससे उस सच्ची आत्मा का एक बार स्मरण कीजिए और अपनी भाषा के प्रति अपने कर्तव्य को ध्यान में रखिए।”

अपने पूर्वजों को किस प्रकार स्मरण करना चाहिए एवं उन्हें सही तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किस तरह समझना चाहिए□ रामचन्द्र शुक्ल ने यहाँ भारतेन्दु पर बात करते हुए एक रास्ता दिखलाया है, पूर्वजों के कार्यों को आगे बढ़ाना ही उनका सच्चा स्मरण है।

**यशवंत नगर, मार्खम कॉलेज के निकट,
हजारीबाग-825301 (झारखण्ड) मो 09835312665**

E-mail : Bharatyayawar@yahoo.com

अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद: 'लगभग सिंगल'

अनंत विजय

पि

छले लगभग दो साल से अंग्रेजी के प्रकाशकों ने हिंदी की ओर ध्यान देना शुरू किया है। इसकी एक मात्र वजह है हिंदी का फैलता बाजार और अनन्त सम्भावनाएँ, जिनकी तलाश में बड़े-बड़े अंग्रेजी के प्रकाश हिंदी की ओर रुख कर रहे हैं। हिंदी के विशाल पाठक वर्ग और हिंदी भाषी लोगों की क्रय क्षमता में बढ़ोतरी को ध्यान में रखते हुए अंग्रेजी के प्रकाशकों ने नई रणनीति बनाई है। वे हिंदी की किताबें भी छाप रहे हैं और साथ ही अंग्रेजी और अन्य भारतीय भाषाओं की किताबों का भी हिंदी में अनुवाद करवाकर पाठकों के सामने पेश कर रहे हैं। यह बात दीगर है कि हिंदी की कोई भी उत्कृष्ट रचना मूलतः अंग्रेजी के प्रकाशकों के यहाँ से छपकर नहीं आ पाई है। हिंदी के लेखकों की जितनी भी किताबें छपी हैं कमोबेश दायम दर्जे की हैं या फिर पहले से ही प्रकाशित हो चुकी किताबें हैं। मेरी जानकारी में तो कई ऐसी किताबें भी इनके यहाँ से प्रकाशित हुई हैं जिन्हें हिंदी के प्रमुख प्रकाशकों ने टुकरा दिया था। हिंदी के बाजार पर छा जाने की खाहिश पाल रहे इन प्रकाशकों को हिंदी पाठकों की रुचि को समझने और बेहतर कृतियाँ उपलब्ध करवाने की दिशा में कदम उठाने होंगे क्योंकि हिंदी और अंग्रेजी का न सिर्फ बाजार अलग है बल्कि पाठकों की रुचि और उन तक पहुँचने का तन्त्रा भी अलग-अलग है।

दूसरी तरफ हिंदी में अनुवाद की हालत बेहद खराब है। जो अनुवाद हो भी रहे हैं, बहुधा स्तरीय नहीं होते हैं। अनुवाद इस तरह से किए जाते हैं कि मूल लेखन की आत्मा कराह उठती है। हिंदी के लेखकों में अनुवाद को लेकर बहुत उत्साह भी नहीं है। अमूमन अनुवाद में लेखक तभी जुटते हैं जब उनके

पास या तो काम कम होता है या नहीं होता है। जैसे ही काम मिलता है अनुवाद को लेकर वे उदासीन हो जाते हैं। इसलिए हिंदी में अनुवाद एक विधा के रूप में विकसित नहीं हो पाया और अनुवादक को उचित सम्मान नहीं मिल पाया। 'पुस्तक-वार्ता' के अपने इसी स्तम्भ में मैंने वाणी प्रकाशन से प्रकाशित दो हजार चार के नोबेल पुरस्कार विजेता लेखिका फ्रेडरिक येलनिक के उपन्यास 'क्लावीयरशपीलेरिन' का हिंदी अनुवाद 'पियानो टीचर' पर टिप्पणी की थी। उक्त उपन्यास का हिंदी अनुवाद विदेशी भाषा साहित्य की त्रैमासिक पत्रिका 'सार संसार' के मुख्य सम्पादक और जर्मन भाषा के जानकार अमृत मेहता ने किया था। पहली नजर में हिंदी अनुवाद ठीक-ठाक लगा था। लेकिन बाद में जमशेदपुर से लेखिका विजय शर्मा ने मेरा ध्यान कुछ त्रुटियों की ओर दिलाया तो मैंने उसका अंग्रेजी अनुवाद पढ़ा। उसको पढ़ने के बाद मुझे पता चला कि अमृत मेहता के अनुवाद में कुछ गड़बड़ियाँ थीं। शास्त्रीय ढंग से अनुवाद के चक्कर में अमृत

मेहता ने कुछ बेहद अश्लील शब्दों और दृश्यों का इस्तेमाल किया जो न केवल गैरजरूरी था बल्कि उपन्यास के कथ्य को अलग तरीके से प्रस्तुत भी कर रहा था। विद्वान अनुवादक ने उपन्यास में वखणत कुछ दृश्यों और तथ्यों को भी बदल डाला। अमृत मेहता ने लिखा कि नायिका बाथ टब में अपने हाथ के नस काटकर खुद को जख्मी कर लेती है जबकि मूल उपन्यास में येलनिक ने लिखा है कि नायिका बाथ टब में अपने यौनांग काट लेती है। यौनांग काटने की घटना से नायिका के मन की सेक्स कुण्ठा उजागर होती है जबकि मेहता ने नस काट लेना लिखकर पूरा सन्दर्भ भी बदल दिया। अनुवाद के शब्दों के चयन की स्वतन्त्रता तो अनुवादक ले सकता है लेकिन प्रसंग और घटनाओं को बदलने की छूट वह नहीं ले सकता है। इस तरह के लापरवाह अनुवाद का नतीजा यह होता है कि भविष्य में शोधार्थियों को गलत सन्दर्भ मिलते हैं और अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

लेकिन अंग्रेजी के प्रकाशकों ने इस स्थिति को बदलने का प्रयास किया है। इन प्रकाशकों ने बेहतर अनुवाद उपलब्ध करवाने की दिशा में गम्भीरता से काम शुरू किया है। पिछले दिनों हॉर्पर कालिन्स ने अद्वैत काला के उपन्यास 'ऑलमोस्ट सिंगल' का अनुवाद मनीषा तनेजा से करवाया है। मनीषा तनेजा दिल्ली विश्वविद्यालय में स्पेनिश पढ़ाती हैं और इसके पहले भी गैबरील गारसिया मारक्वेज के उपन्यास 'एकाकीपन के सौ साल' और पाब्लो नेरुदा के संस्मरण का हिंदी में अनुवाद किया है। अभी-अभी मैंने उनके द्वारा अनूदित अद्वैत काला के उपन्यास का हिंदी अनुवाद 'लगभग सिंगल' पढ़ा। मैंने अद्वैत काला का अंग्रेजी में लिखा मूल उपन्यास भी पढ़ा था। मनीषा के अनुवाद में मूल की आत्मा की रक्षा की गई है जिससे उपन्यास के प्रवाह में बाधा नहीं



आती। हिंदी अनुवाद में अंग्रेजी भाषा के शब्दों को लेकर कोई दुराग्रह दिखाई नहीं देता, बल्कि पात्रों के बीच बोलचाल में सहजता से जो अंग्रेजी के शब्द आते हैं उसे हिंदी अनुवाद में बदला नहीं गया है, जिस वजह से अनुवाद बेहतर हो पाया है। अंग्रेजी के शब्दों की जगह हिंदी के कुछ ठेठ देशज शब्दों के इस्तेमाल से भाषा चमक उठती है। जैसे करवाचौथ मनाते वक्त बातचीत में सहजता से 'जनानियों' शब्द का इस्तेमाल अनुवाद को बेहतर बना देता है और हिंदी पाठकों को ये एहसास नहीं होता कि अमुक कृति दूसरी भाषा में लिखी गई है।

अद्वैत काला का यह उपन्यास दरअसल आज के युवा पीढ़ी की कहानी है। इस उपन्यास की केन्द्रीय पात्रा आएशा एकदम बिंदास और त्रिदोही है। दोस्तों के साथ दारु पीना, देर रात तक पार्टी करना, नौकरी करते वक्त अपने बॉस से घृणा करना, शादी के लिए कहने पर अपनी माँ और रिश्तेदारों से उलझना उसके स्वभाव का हिस्सा बन चुका है। अपने पाँव पर खड़ी और हर चीज में अपनी मर्जी चलाने वाली यह आधुनिक नायिका एक अदद पुरुष मित्रा के लिए बेचैन है लेकिन दूसरी ओर बढ़ते वजन को लेकर चिन्तित भी है। भिन्न-भिन्न दोस्तों के साथ अपने अन्दाज में जिन्दगी जीने वाली आएशा के मनोभावों को समझने के लिए दोस्तों के साथ होने वाली उसकी बातचीत एक आधार प्रदान करती है।

अद्वैत काला का यह पहला उपन्यास है और पहले उपन्यास में स्वानुभूति की गुंजाइश ज्यादा रहती है, अमूमन यह माना जाता है कि लेखक ने अपने अनुभवों को कल्पना की चाशनी में डुबाकर कोई कृति पेश की है। किताब में लेखिका के परिचय से इस बात के संकेत मिलते हैं। लेखिका के परिचय पर नजर डालिए—अद्वैत काला अपने आप में विद्रोही (वेलहम्म स्कूल में बिताए कई सालों का नतीजा), कन्फ्यूज्ड (बेरी कॉलेज अमरीका में चार साल लिब्रल आर्ट्स की पढ़ाई के बाद) और बहुआयामी हैं (लाइब्रेरियन से लेकर तेपनयाकि शेफ की नौकरी तक)। अगर हम लगभग सिंगल की नायिका आएशा के व्यक्तित्व पर विचार करें तो ये सारे गुण उसमें भी हैं, वह भी होटल इंडस्ट्री से जुड़ी है, स्वभाव से विद्रोही है और अद्वैत काला की हमउम्र और लगभग सिंगल भी है। हालाँकि लेखिका

यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि यह उपन्यास आत्मकथात्मक है लेकिन जब यह उपन्यास अंग्रेजी में छपा था तब भी उनसे इस बारे में सवाल किए गए थे। तब काला ने इससे साफ इनकार किया था। तब अद्वैत काला ने यह माना भी था कि जब उनका कैरियर आकार ले रहा था तो उनके मित्रा और परिचित उन्हें कई बार यह सलाह देते थे कि बगैर एक पुरुष के किसी भी नारी का जीवन सम्पूर्ण नहीं होता है। अद्वैत ने यह माना था कि उनकी सलाह और उन बातों का असर इस उपन्यास पर है और वे बातें ही इस उपन्यास का प्रस्थान बिन्दु हैं।

अद्वैत काला का यह उपन्यास बदलते भारत में बदलती नारी की तरवीर है। कहा जाता है कि जब किसी देश में महिलाओं के विचार और उनके ख्याल बदलने लगें तो उसे देश की संस्कृति में बदलाव की आहट के तौर पर समझा जाना चाहिए। अगर इन बातों से इतर हम एक उपन्यास के तौर पर 'लगभग सिंगल' पर विचार करें तो अंग्रेजी की इस युवा लेखिका की तारीफ की जानी चाहिए। संवाद शैली में चलने वाले इस उपन्यास में जबरदस्त किस्सागोई है और कहीं भी किसी भी क्षण यह नहीं लगता कि बेवजह घटनाओं को या फिर संवाद को विस्तार दिया जा रहा है। बेहद सधे और कसे अन्दाज में चलने वाली कहानी पाठकों को अन्त तक बाँधे रखती है। अंग्रेजी में तो पाठकों ने इस उपन्यास को हाथों हाथ लिया था और देश-विदेश में इस पर खासी चर्चा भी हुई। प्रकाशक का दावा है कि अंग्रेजी में इस उपन्यास की अब तक पचास हजार प्रतियाँ बिक चुकी हैं। अगर हिंदी में इसका दस फीसदी भी बिक जाता है तो हिंदी के लेखकों और प्रकाशकों के लिए चुनौती बनकर खड़ा हो जाएगा। यह जानना भी दिलचस्प होगा कि प्रकाशक इसके हिंदी में बिक्री के आँकड़ों को जारी करता है या नहीं।

लगभग सिंगल, अद्वैत काला, अनुवाद—मनीषा तनेजा, प्रकाशक—हॉर्पर कॉलिंस पब्लिशर्स इंडिया, ए-53, सेक्टर-57, नोएडा-201301, मूल्य : 150.00 रुपये

321—बी, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश—201014, फोन—09871697248 ई-मेल : anant.ibn@gmail.com

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशन

1. **जिम थपतेज च्चिसपीमक 'दजीवसवहल व'म्पदकप च्चमजेए** प्ततम ठंदहीं, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225 रुपये
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200 रुपये
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175 रुपये
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150 रुपये
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325 रुपये
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395 रुपये
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी / रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350 रुपये
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395 रुपये
9. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375 रुपये
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400 रुपये
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250 रुपये
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395 रुपये
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150 रुपये
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125 रुपये
15. **हिंदी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350 रुपये

समय के रहगुजर

कुबेर दत्त

सु

सुप्रसिद्ध उर्दू शायर कैफ़ि आजम्बी की पत्नी शौकत कैफ़ि ने हिंदी में एक संस्मरणात्मक पुस्तक लिखी। 'याद के रहगुजर' जिसमें

उनके और कैफ़ि आजम्बी के लम्बे सम्बन्धों के अनेक पड़ाव हैं। यह किताब बहुत मशहूर हुई और इसकी ख्याति पूरी दुनिया में फैल गई। जापान सहित अनेक देशों के विश्वविद्यालयों में इसे पढ़ा गया। अमरीका के चौदह विश्वविद्यालयों में तो यह पुस्तक रेफ़रेंस रीडिंग के रूप में स्वीकृत हुई। जापानी भाषा और मराठी समेत कई भारतीय भाषाओं में भी इस पुस्तक का अनुवाद हो चुका है। अंग्रेजी संस्करण तैयार है और जल्द ही पाठकों तक पहुँचेगा। हिंदी में इसका प्रकाशन राजकमल ने किया है। यह बताना भी जरूरी है कि यह किताब न सिर्फ़ कैफ़ि आजम्बी और शौकत आजम्बी के जीवन से जुड़े अनेक प्रसंगों पर रोशनी डालती है, बल्कि इसमें आजम्बी की लड़ाई, आजम्बी की सुबह, भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के उद्भव और उतास-चढ़ाव की भी अनेक घटनाओं का वर्णन है।

शौकत और उनकी बेटी शबाना से इस पुस्तक और इससे जुड़े कुछ मुद्दों पर एक बातचीत की गई। प्रस्तुत हैं कुछ प्रमुख अंश :

प्रश्न : 'याद के रहगुजर' पुस्तक जब लिखी जा रही थी तो क्या इसकी कोई कल्पना थी कि यह किताब शोहरत की हदें पार कर जाएगी?

शौकत : क्या बताऊँ, मैं किताब लिख ही रही थी कि कैफ़ि आजम्बी का निधन हो गया। मेरा लिखना बाधित ही नहीं हुआ, बल्कि मेरी रुचि ही न रही। कुछ समय

बीता। मेरी बेटी शबाना ने कई बार मुझसे इसरार किया कि किताब मैं दोबारा शुरू करूँ पर मेरा मन ही नहीं हुआ।...शबाना के मन में मगर उधेड़-बुन चलती रही। वह कोई-न-कोई रास्ता निकालना चाहती थी।

एक दिन मुझे बताया गया कि किताब जितनी लिखी जा चुकी है, उसके कुछ अंशों का पाठ करने के लिए दिल्ली में एक आयोजन किया जा रहा है। पहले तो मैं अनमनी रही पर शबाना के जिष्ट पकड़ने पर आखिर दिल्ली में कुछ अंशों का पाठ किया। उसी दरमियान हिंदी और अंग्रेजि के प्रकाशकों ने मुझसे किताब के प्रकाशन के अधिकार माँगे। मैं पहले तो कुछ न कह पाई मगर शबाना और जावेद ने मुझ पर जबर्दस्त भावनात्मक दबाव बनाया और मुझे मानना पड़ा। दोबारा लिखना शुरू करना बहुत आसान नहीं था मगर 'कमिटमेंट' तो था। इसलिए किसी तरह लिखना शुरू किया और किताब पूरी की।

प्रश्न : किताब इतनी लोकप्रिय होगी, इसका कोई पूर्वानुमान था?

शौकत : कष्टई नहीं। मगर जो हुआ, उस पर भरोसा तो करना ही पड़ेगा। वह एक सच्चाई है।

प्रश्न : 'याद के रहगुजर' का नाट्य-रूपान्तरण भी हुआ है और इसमें आपकी और कैफ़ि साहब की भूमिका शबाना और जावेद अख्तर ने निभाई। नाट्य-प्रस्तुति देखकर आपकी प्रतिक्रिया क्या थी?

शौकत : दोनों ने कमाल किया है। नाटक के दौरान मैं कई बार रोई। लगा-मंच पर मैं और कैफ़ि साहब ही हैं। खुद शबाना के लिए वह एक नई तरह का अनुभव था।

प्रश्न : एक जिज्ञासा...आपका

तआल्लुक हैदराबाद के एक समृद्ध परिवार से है और जब कैफ़ि साहब के साथ आपका विवाह हुआ तो वे तो एक सामान्य वित्तीय परिवार से थे। बल्कि एक ग़रीब शायर! आपका परिवार निहा के लिए सहमत कैसे हुआ?

शौकत : मुझे अपने परिवार पर गर्व है, विशेषकर अपने पिता पर जो सामाजिक-आख्थक रूप से यकषिनन बेहद प्रतिष्ठित थे मगर थे प्रगतिशील विचारों के। उन्हें अपनी बेटी की खुशियाँ ज़्यादा अहम लगीं और वे कैफ़ि को भी बहुत पसन्द करते थे।

वहीं बगल में शबाना बैठी हुई थीं। उनसे जब पूछा गया कि क्या अपने और जावेद के जीवन के बारे में वे भी कोई किताब लिखेंगी तो उनका कहना था। "मुझे नहीं लगता कि मेरी जिन्दगी माँ जैसी घटनापूर्ण है और न ही जावेद की। अब्बा और अम्मा के जीवन के विशाल कैनवस के सामने हमारी जिष्टगी अदना है।" ...यह शबाना का बड़प्पन है, वरना शबाना और जावेद अख्तर के जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जो किताब की शकल ले सकते हैं।

अज्ञेय जन्मशती समारोह

2010 हिंदी के तीन लक्ष-प्रतिष्ठित कवियों का जन्मशती वर्ष है। ये हैं नागार्जुन, शमशेर और अज्ञेय। इन तीनों के जन्मशती समारोहों के आयोजन की सुगबुगाहट जब कहीं नहीं थी तो कवि-आलोचक अशोक वाजपेयी ने पिछले वर्ष 'जनसत्ता' के अपने कॉलम 'कभी कभार' में सबसे पहले यह याद दिलाया था कि इन मूर्धन्यों की जन्मशती दूर नहीं है और कि हिंदी-जगत को इस दिशा में सक्रिय होकर कुछ स्तरीय आयोजन करने चाहिए।



अभी तक तो इस तरह की शुरुआत न लेखक संगठनों में दिखाई दी न हिंदी की संस्थाओं में और न ही विश्वविद्यालयों में।

लेकिन इस दिशा में अशोक वाजपेयी ने शुरुआत कर दी। 7 मार्च (अज्ञेय का जन्मदिन) 2010 को नई दिल्ली के इण्डिया इण्टरनेशनल सेंटर, एनेक्सी में रजष फाउंडेशन और एकत्रा कला-कविता केन्द्र की ओर से 'अज्ञेय-100' कार्यक्रम आयोजित किया गया। अशोक वाजपेयी के व्यक्तिगत और विशेष प्रयत्नों से अज्ञेय की चुनी हुई 32 कविताओं की रिकॉर्डिंग सुनवाई गई। ये अज्ञेय की अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रतिनिधि कविताओं में गिनी जाती हैं। लम्बी कविता 'असाध्य वीणा', 'नदी के द्वीप', 'आँग के पार द्वार', 'कलगी बाजरे की', 'नाच', 'घर', 'चक्रान्तशिला' तथा 'सागरमुद्रा' शृंखला की कई कविताएँ शामिल थीं।

शायद यह भी पहली बार था कि श्रोताओं ने अज्ञेय की अपनी आवाज में एक गीत 'पूखणमा की चाँदनी' भी सुना। अज्ञेय उन कवियों में थे जिन्होंने आधुनिक हिंदी कविता के पाठ की एक अनूठी शैली निखमत की थी और जिसका अभ्यास हिंदी के कई कवियों ने किया। जिन्होंने अज्ञेय को सुना है वे जानते हैं कि अज्ञेय जब पढ़ते थे तो लगता था वे अपनी ही कविता पढ़ रहे हैं क्योंकि पढ़ते हुए जो सांगीतिकता वे रचते थे वह तभी सम्भव है कि कवि अपने पाठ में भी कुशल हो। दुर्भाग्य से यह गुण बड़े कवि फैज में नहीं था। नागार्जुन में था, त्रिलोचन में था, शमशेर और केदारनाथ अग्रवाल में था। सुपाठ का यह गुण केदारनाथ सिंह, कैलाश वाजपेयी, अशोक वाजपेयी, नीलाभ और पंकज सिंह में भी देखा जा सकता है। कई कवि अपनी ही अच्छी

कविताओं को ऐसे पढ़ते हैं, जैसे किसी और की कविता पढ़ रहे हों।

अज्ञेय की रिकॉर्डिंग सुनते हुए एल. सी.डी. स्क्रीन पर उनकी अनेक फोटो-छवियाँ भी उभर रही थीं। इनमें सुरेन्द्र जोशी द्वारा निखमत रेखाचित्रा भी था।

इस मौके पर अशोक वाजपेयी ने बताया कि दिल्ली के साथ-साथ गोरखपुर में भी अज्ञेय की कविताओं के पाठ का आयोजन किया गया है। उन्होंने यह भी सुखद सूचना दी कि इन तीन बड़े कवियों के जन्मशती वर्ष में अनेक समारोह होंगे जिनमें उनके अवदान और सृजन पर विचार गोष्ठियाँ होंगी और रचनावली-प्रकाशन भी। अज्ञेय की रचनावली ज्ञानपीठ और शमशेर की रचनावली राजकमल प्रकाशन से आएगी।

इसके पूर्व 'एकत्रा कला कविता केन्द्र' और रजष फाउंडेशन के तत्वावधान में शमशेर की रिकॉर्डिंग सुनवाई गई थी।

अशोक वाजपेयी ने आह्वान किया कि इन महत्वपूर्ण कवियों के व्यक्तित्व-कृतित्व पर पूरे देश में अनेक आयोजन होने चाहिए। रचनाकार के रूप में अज्ञेय का जो स्थान है, सब जानते हैं मगर उनके व्यक्तित्व के ऐसे अनेक रोचक और मानवीय पक्ष हैं कि जिन्हें अनेक लोग नहीं जानते। अज्ञेय एक बेहतरिन छायाकार थे, कुशल बढ़ई थे, संगीत में गहरी रुचि रखते थे, नृत्य शास्त्रा और इतिहास उनके प्रिय विषय थे। उन्होंने संस्कृत और विदेशी साहित्य का गहन अध्ययन किया था। वे महान प्रकृति प्रेमी और कुशल पाकशास्त्री भी थे। उन्होंने अनेक जरूरतमन्द साहित्यकारों पत्राकारों की मदद की थी और उनमें से कई को तो यह पता भी नहीं था कि यह मदद किसने की। इसमें आख्यक मदद भी शामिल थी।

उत्तर-दक्षिण बहै बयार

दिल्ली में राजनीतिक बवाल और बखेड़े रोज की बात है। धरना-प्रदर्शन भी और सड़क-दुर्घटनाएँ तथा अपराध भी। लेकिन इन सबसे हटकर दिल्ली में कला-संस्कृति के स्तर पर ऐसा बहुत कुछ घटता रहता है जो हमें जीवन और सोच के स्तर पर सुकून देता चलता है।

दिल्ली की स्पिक मैके संस्था ने एक इतिहास रच दिया है। शास्त्रीय संगीत को लोकमानस तक सहज सुलभ करने की दिशा में इस संस्था ने करिश्माई भूमिका निभाई है। इसमें उसे नई दिल्ली नगर पालिका का भरपूर सहयोग मिलता रहा है। 'पार्क में संगीत' आयोजन अब खासा लोकप्रिय है। 2010 के वसंत-आगमन पर नई दिल्ली के नेहरू पार्क में एक विशाल जन-समुद्र उत्सुकता से बैचन था। उस खुशगवार, महकती शाम में दो महान हस्तियों का संगीत-कार्यक्रम रखा गया था। श्रुति-शुद्धता का रस लेने के लिए लोग उत्सुक थे। और इसे सिद्ध करने वाले थे दो महान कलाकार-कर्नाटक संगीत से जुड़े सुप्रसिद्ध वायलिन वादक और गुरु प्रो. टी.एन. कृष्णन् और हिन्दुस्तानी संगीत की विदुषी कलाकार व गुरु गिरिजादेवी।

दिल्ली विश्वविद्यालय के संगीत संकाय में डीन रहे प्रोफेसर कृष्णन् एक दक्ष गुरु माने जाते रहे हैं। विख्यात वायलिन वादक तो वे हैं ही, कुशल संगीत-संयोजक भी हैं। उन्होंने बहुत श्रद्धा के साथ अपने पिता-गुरु ए.नारायण अय्यर से संगीत की गहन शिक्षा प्राप्त की और इस परम्परा को पल्लवित-पुष्पित करते हुए अपनी पुत्री विजी कृष्णन् को बेहतर तालीम दी।

प्रोफेसर कृष्णन् देश-विदेश में अपनी एकल प्रस्तुतियाँ देते रहे हैं। अनेक प्रतिष्ठित कलाकारों को संगति भी देते रहे हैं। दूरदर्शन-आर्काइव ने उनकी प्रस्तुतियों की तीन डी. वी.डी. और ऑडियो सी.डी. जारी की है।

इस शाम की दूसरी सिद्ध कलाकार थीं विदुषी गिरिजा देवी। उन्होंने राग जोग से शुभारम्भ किया। बड़ा ख्याल और छोटा ख्याल पूरे विधि-विधान से पेश करने के बाद वे होरी और तुमरी पर आईं। होरी का

ऐसा समा बँधा कि श्रोताओं की भीड़ ने और भी होरी सुनने का इस्तरा किया। लेकिन गिरिजा देवी जो चाहती हैं, होता वही है। उन्होंने फरमाइश पर ध्यान नहीं दिया और मीरा भजन से कार्यक्रम सम्पन्न किया। उनके संगत कलाकार थे सारंगी पर मुराद अली, हारमोनियम पर जमीर अहमद और तबले पर जयशंकर मिश्र। गायन में साथ दिया उनकी कई शिष्याओं ने, जिनमें सुनंदा का स्वर अलग से सुनाई पड़ता था। यकीनन गिरिजा देवी उन कुछ विरला महिला कलाकारों में हैं जिन्होंने उत्तर भारतीय संगीत को विशिष्ट दर्जा प्रदान किया है। सबसे पहले उन्हें 35 वर्ष पूर्व दिल्ली दूरदर्शन के स्टूडियो में सुना था और यह मेरा सौभाग्य है कि, 1986 में बनारस में, गंगाघाट पर आयोजित 'गंगा महोत्सव' के दौरान भी न सिर्फ उन्हें सुना बल्कि रिकॉर्ड भी किया। इसी यादगार समारोह में मैंने उस्ताद बिस्मिल्ला खॉं और श्रीमती राज्म की शहनाई और वायलिन की जुगलबन्दी भी रिकॉर्ड की थी जो आज डी.वी.डी. के रूप में उपलब्ध है। तबले पर संगत किशन महाराज ने की थी। वह एक अविस्मरणीय शाम थी जिसकी गूँज अभी भी जह्दन में बरकप्यार है।

संगीत का इतिहास और भारतीय नवजागरण की समस्या

मूर्धन्य समालोचक डॉ. रामविलास शर्मा के 96वें जन्मदिवस के अवसर पर नई दिल्ली के त्रिवेणी सभागार में एक समारोह हुआ जिसमें उनके योगदान पर गहन विमर्श तो हुआ ही, उनके द्वारा लिखे गए एक नाटक का मंचन भी हुआ। इसी के साथ-साथ डॉ. शर्मा द्वारा लिखित पुस्तक 'संगीत का इतिहास और भारतीय नवजागरण की समस्याएँ' का लोकार्पण भी हुआ। पुस्तक का प्रकाशन वाणी प्रकाशन ने किया है।

जो मापदण्ड रामविलास जी ने साहित्य की आलोचना के लिए अपनाए लगभग वही उन्होंने संगीत पसन्द करते समय अपनाया। उन्हें ऐसा साहित्य और संगीत पसन्द था जो पढ़ने या सुनने वाले के मन में उदात्त भावनाओं का संचार करता है। रीतिकालीन शृंगारिक साहित्य-गायकी की अति अलंकरण वाणी मुरकियाँ उन्हें पसन्द नहीं थीं। उन्हें

मंसूर, सिद्धेश्वरी देवी, रसूलन बाई, भीमसेन जोशी, बड़े गुलाम अली खॉं, रवि शंकर, अली अकबर खॉं, बालमुरली कृष्णा, बिस्मिल्ला खॉं, डी.वी.पलुस्कर, पण्डित जसराज, कुमार गन्धर्व, उस्ताद बड़े गुलाम अली खॉं, श्रीमती एम. एस.सुबलक्ष्मी का गायन/वादन बहुत पसन्द था। वे पाश्चात्य संगीत भी चाव से सुनते थे। इसी तरह उनकी लोकसंगीत में भी गहरी पैठ थी। बचपन से ही रामविलास जी की संगीत में गहरी रुचि थी। वे डूबकर संगीत सुनते थे। वे नियमित तौर पर रेडियो भी सुनते थे समाचार जानने के लिए और संगीत सुनने के लिए। इसी के साथ वे रेडियो पर संगीत सम्बन्धी वार्ताएँ सुनते थे, लोक संगीत सुनते थे, ऐसे कार्यक्रम सुनते थे जिनमें किसी राग विशेष के बारे में बताया जाता हो और साथ ही वे संगीत का अखिल भारतीय कार्यक्रम भी सुनते थे।

उन्होंने शास्त्रीय संगीत की विधिवत शिक्षा, लखनऊ के संगीत विद्यालय में लेना प्रारम्भ किया था। गायन के अलावा उन्होंने वायलिन बजाना भी सीखना, शुरू किया था। किन्हीं कारणों से इसमें व्यवधान हुआ मगर उनका संगीत-अध्ययन और चिन्तन अन्त तक जारी रहा।

रामविलास जी ने गहन अध्ययन के बाद बताया था कि साहित्य को हम इतिहास और समाजशास्त्रा से जोड़कर नहीं देखेंगे तो गलती करेंगे। उनकी मान्यता थी कि कोई भी भाषा परिवार अपनी मूल विशेषताएँ एकान्त में विकसित नहीं करता इसीलिए किसी भी भाषा परिवार के उद्भव और विकास का अध्ययन अन्य भाषा परिवार के उद्भव और विकास से अलग रखकर नहीं किया जा सकता। भारत भाषा-तत्त्वों का केवल आयात केन्द्र ही नहीं रहा है, वह इन तत्त्वों का निर्यात केन्द्र भी रहा है। भाषा-तत्त्वों के साथ-साथ **लोकसंगीत** और **लोकसंस्कृति** का प्रसार भी होता है।

उनके अनुसार शास्त्रीय संगीत का आधार लोकसंगीत होता है। विभिन्न देशों के लोक संगीतों में समानता से यह सिद्ध होता है कि इन देशों के निवासियों में लम्बे समय से पारस्परिक सम्बन्ध रहा है। आचार्य बृहस्पति के एक लेख 'हंगरी, रूस और मंगोलिया के संगीत पर भारतीय प्रभाव' का

हवाला देकर, वे बताते हैं कि हंगरी संगीत वहाँ के लोक संगीत से जुड़ा था और उसमें भारतीय राग सुनाई पड़ते थे। इसी प्रकार रूस के लोकसंगीत में उन्हें भारतीय राग 'सिन्दूरा' के दर्शन हुए। आर्मीनिया में जब उन्होंने लोकगीतों पर आधारित एक विशेष कार्यक्रम सुना, तो उन्हें आभास हुआ कि हमारे अनेक राग उन लोगों में मचल रहे हैं। वादक प्रायः उसी शैली में स्वरावलियों का विस्तार कर रहे थे जिस प्रकार से हम लोग करते हैं। इसी तरह उन्होंने संगीत पर हिन्दुस्तानी और कर्नाटकी दोनों संगीत शैलियों के प्रभाव के बारे में लिखा है।

रामविलास जी का मत था कि उत्तर भारत में व्यापारिक पूँजीवाद का उत्कर्षकाल साहित्य और विभिन्न कलाओं का उत्कर्षकाल है। अन्य कलाओं की अपेक्षा संगीत का उन दिनों साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। उन दिनों, अनेक सन्तों ने व्यापक सामाजिक उद्देश्य के लिए संगीत का विकास और प्रसार किया। इसीलिए डॉ. शर्मा मानते थे कि साहित्य के साथ संगीत के इतिहास का अध्ययन आवश्यक है।

हिंदी प्रदेश में यह नवजागरण अमीर खुसरो से शुरू होता है। शास्त्रीय संगीत का आधार लोकसंगीत कहा गया है, इस प्रसंग में स्वरों के नामकरण, सप्तक में षडज और ऋषभ, पंचम और धैवत की स्थिति का इतिहास रोचक है। भारतीय साहित्य में श्रुतियों से स्वर का सम्बन्ध और स्वर से स्थान का सम्बन्ध सैद्धान्तिक दृष्टि से विचारणीय है।

जिसे हिन्दुस्तानी संगीत कहते हैं, वह हिंदी भाषी जनता का जातीय संगीत है। दिल्ली के गद्दीनशीन इस्लाम धर्म के अनुयायी थे पर जातीयता के विचार से वे हिन्दुस्तानी थे। जो तुर्क, अरब, ईरानी, पठान भारत में आए, वे यहाँ के प्रादेशिक जातियों में घुल-मिल गए। संगीत की बंदिशें ब्रजभाषा में हैं। इन्हें हिन्दू-मुसलमान दोनों गाते थे। तथाकथित मुश्तर्का जष्वान उर्दू का कहीं पता न था।

159. आकाश दर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110091, मो. 09868240906

साहित्य कोलाहल

वैचारिक स्वतन्त्रता के तरफदार थे मार्कण्डेय मैनेजर पाण्डेय



प्रेमचन्द के बाद ग्रामीण पृष्ठभूमि से जुड़ी कहानियों को सामने लाने का काम फणीश्वर नाथ रेणु, मार्कण्डेय और शिव प्रसाद सिंह ने किया। अपने से छोटों की बात रखने का पूरा मौका देना और उनकी अच्छी बात का आगे बढ़कर शाबासी देना मार्कण्डेय की विशेषताओं में शामिल था। उभरते कथाकारों को मंच दिलाने के लिये भी उन्होंने प्रयास किया। मार्कण्डेय की कृतियों का पुर्नमूल्यांकन करना होगा। सच कहा जाए तो वह वैचारिक स्वतन्त्रता के समर्थक थे। उक्त बातें वरिष्ठ आलोचक मैनेजर पाण्डेय ने अपने 30 वर्षों के कथाकार साथी मार्कण्डेय की स्मृति में महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के इलाहाबाद के क्षेत्रीय केन्द्र में आयोजित स्मृति सभा में व्यक्त किए। इलाहाबाद की कथात्रयी अमरकान्त/ मार्कण्डेय/शेखर जोशी के बीच की एक कड़ी का टूटना, वरिष्ठ कथाकार शेखर जोशी की संवेदना में अपने साथी के बिछड़ने का दर्द शामिल था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग के पूर्व अध्यक्ष एवं 'बहुवचन' पत्रिका के सम्पादक प्रो. राजेन्द्र कुमार ने कहा कि प्रेमचन्द के बाद मार्कण्डेय गाँव अपनी

रचनाओं में जीते रहे। उनकी 'कथा' पत्रिका आज भी हमारे लिए 'मानक' है। कार्यक्रम का संयोजन क्षेत्रीय केन्द्र के निदेशक सन्तोष भदौरिया ने किया और संचालन युवा कवि विवेक निराला द्वारा किया गया।

□निधि सिंह, इलाहाबाद

जेएनयू में अनामिका द्वारा अपने उपन्यास अंशों का पाठ और परिचर्चा

जेएनयू के भारतीय भाषा केन्द्र की ओर से आयोजित एक कार्यक्रम में अनामिका ने अपने सद्यःप्रकाशित 'दस द्वारे का पिंजरा' और 'तिनका तिनके पास' उपन्यासों के चुने हुए अंशों का पाठ किया। उन्होंने अपनी रचना प्रक्रिया के बारे में बताते हुए कहा कि मैंने दो-तीन पीढ़ियों को समझने के क्रम में ही कलम उठाई है और चरित्रों के माध्यम से उसे सृजित करने का प्रयत्न किया है।

□मीता सोलंकी, भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-67

स्त्री विमर्श के प्रचलित दायरे से बाहर है 'किरदार जिन्दा है'



पिछले दिनों सुश्री रेखा कस्तवार की ताजा पुस्तक 'किरदार जिन्दा है' का लोकार्पण हिंदी की प्रख्यात लेखिका सुश्री ममता कालिया

ने किया। समारोह के मुख्य अतिथि अधिवक्ता तथा महिला एवं बाल कानून विशेषज्ञ अरविन्द जैन एवं कवि, लेखक एवं सी.वी.रमन विश्वविद्यालय रायपुर के कुलाधिपति सन्तोष चौबे तथा विवेक हिरदे, इन्दौर थे।

'किरदार जिन्दा है' की लेखिका सुश्री रेखा कस्तवार ने अपने सम्बोधन में बताया कि उन्होंने इस पुस्तक में चालीस रचनाओं को आधार बनाकर उन रचनाओं के महत्त्वपूर्ण किरदारों से संवाद किया है।

प्रख्यात लेखिका एवं म.गां.अ.हिं.वि. वि. वर्धा की अंग्रेजी त्रैमासिक 'हिंदी' की सम्पादक सुश्री ममता कालिया ने अपने अध्यक्षीय सम्बोधन में कहा कि रेखा कस्तवार का यह काम नये ढंग का है। यह आम प्रचलित स्त्री-विमर्श के चलताऊ जुमले से बिलत्कुल अलग है। यह स्त्री की समस्याओं को केन्द्र में रखकर रचना के साथ एक पाठकीय प्रतिक्रिया है।

□महेन्द्र गगन, भोपाल

'ट्रेसेज ऑफ इण्डियन कल्चर इन वियतनाम' का लोकार्पण

'दक्षिण पूर्वी एशिया पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव पिछले दो हजार वर्षों से रहा है। हिन्दू-धर्म और बुद्ध-धर्म ही नहीं बल्कि भारतीय वास्तुशिल्प, संस्कृति, भाषा आदि भी इस सांस्कृतिक संक्रमण के प्रभावी कारक रहे हैं। वियतनाम में एक किलोमीटर के फैलाव वाले मन्दिर का निर्माण भारतीय चोल राजाओं ने कराया था। वह मन्दिर भारतीय वास्तुशिल्प का अनूठा उदाहरण है। आज भी वियतनाम में ऐसे मन्दिर हैं जहां रोज पूजा होती है।'

इस आशय की बात आई.सी.सी.आर. के अध्यक्ष एवं प्रसिद्ध चिन्तक डॉ. कर्णसिंह ने बैनियान ट्री बुक्स (राजकमल प्रकाशन समूह) द्वारा प्रकाशित गीतेश शर्मा की पुस्तक 'ट्रेसेज ऑफ इण्डियन कल्चर इन वियतनाम' का लोकार्पण करते हुए कही।

डॉ. नामवर सिंह की चार पुस्तकों का लोकार्पण



“डॉ. नामवर सिंह वाचिक परम्परा के आचार्य हैं। उनके बोले और लिखे हुए में अधिक अन्तर नहीं होता।” यह मानना है हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ कवि कुँवर नारायण का। डॉ. नामवर सिंह की हाल ही में प्रकाशित चार नई पुस्तकों के लोकार्पण के अवसर पर अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में उपस्थित जनों को सम्बोधित करते हुए कुँवर जी ने कहा कि नामवर जी अपनी व्याख्या के लिए जाने जाते हैं। उनकी साहित्यिक दृष्टि मौलिक है और विवेचना अनुपम।

राजकमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशनाधीन डॉ. नामवर सिंह की कुल दस पुस्तकों में से प्रकाशित और लोकार्पण ये पहली चार पुस्तकें हैं : 'कविता की जमीन और जमीन की कविता', 'हिंदी का गद्यपर्व', 'प्रेमचन्द और भारतीय समाज' और 'जमाने से दो दो हाथ'।

लोकार्पण के अवसर पर डॉ. नामवर सिंह ने कहा कि अभिव्यक्ति के दो माध्यम हैं, कलम एवं जीभ और इन पुस्तकों में इन दोनों माध्यमों का उपयोग हुआ है। आलोचक निर्मला जैन ने डॉ. नामवर सिंह को 'साहित्य-साधक' की संज्ञा दी तथा कहा कि

उनका बोलना ही स्वरचित गद्य की तरह है और उनकी पुस्तकों का लोकार्पण एक ऐसा अवसर है जहाँ उनके विचार लिखित रूप में हमारे सामने हैं।

कालिया दम्पती के घर में चोरी

पिछले दिनों 'गालिब छुटी शराब' के प्रसिद्ध लेखक, नया ज्ञानोदय के सम्पादक और भारतीय ज्ञानपीठ के निदेशक रवीन्द्र कालिया और 'हिंदी' (अँग्रेजी) की संपादक व 'दुःखम-सुखम' जैसे चखचत उपन्यास लेखिका ममता कालिया के लाजपत नगर नई दिल्ली स्थित घर में उनकी अनुपस्थिति में चोरी हुई। चोर आसानी से घर का ताला तोड़कर घुसे और गोदरेज की आलमारी से उनके स्वर्णभूषण के साथ लगभग 25-30 हजार नगद ले गए। उसी आलमारी में एक लिफाफे में बन्द पाउण्ड पर उनकी नजर नहीं पड़ी। थाने में एफ. आई.आर. दर्ज होने तक सोना भट्टी में पिघल चुका हो। इस प्रसंग पर पूछने पर ठहाका मारते कालिया कहते हैं कि यार मेरा भारी दुख तो यही है कि साले एक भी किताब नहीं ले गए। आलमारी में स्कॉच की तीन बोलतें पड़ी थीं, उसे भी नहीं छुआ। साले चोर न शराबी थे और न किताबी अन्यथा वे विभूतिनारायण राय के नये प्रकाशित उपन्यास 'प्रेम की भूतकथा' पर छपी सुन्दर विदेशी स्त्री की तस्वीर देखकर पिघलते। मेरा उपन्यास 17, रानाडे रोड या ममता का उपन्यास 'दुःखम सुखम' तो ले ही जाते। मुझे लगता है साले विभूतिजी के भूत से डर गए। यह तो अच्छा हुआ कि मेरा पाउण्ड बच गया। सचमुच साला चोर अनाड़ी था। अन्यथा वह उनकी पुस्तकों की कई पाण्डुलिपियाँ स्मृतियों की जन्मपत्री और 'कॉमरेड मोनालिसा' उठाकर ले जाता और अपने नाम से छपवा लेता।

भाषाई बिखराव, भारतीय अस्मिता के हित में नहीं शम्भुनाथ

वर्चस्ववादी ताकतें हमारी सांस्कृतिक अस्मिता को विकृत कर रही हैं। जहाँ जीवन शैली



और खान-पान में एकरूपता आती जा रही है वहीं जातीय संकीर्णताएं और संस्कृति के प्रतीकों को उभारा जा रहा है। हम चाहकर भी इन बन्धनों को तोड़ नहीं पा रहे हैं। आज भारतीय होने को भी पिछड़ेपन के रूप में प्रचारित किया जाने लगा है। पूँजीवादी ताकतें एक ओर पूँजी को वैश्वीकृत करते हुए बड़ी तेजी से बाहर को विस्तार दे रही हैं। वहीं स्थानीय जनता के बीच जातीयता, क्षेत्रवाद और भाषा के नाम पर भेद पैदा किया जा रहा है। उक्त बातें कोलकाता विश्वविद्यालय के प्रोफेसर शम्भुनाथ ने महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के इलाहाबाद स्थित क्षेत्रीय केंद्र के 'सत्यप्रकाश मिश्र सभागार' में 'भारतीय अस्मिता का प्रश्न' विषय पर आयोजित विशेष व्याख्यान में कहीं।

प्रेम की भूतकथा पर जसम द्वारा गोष्ठी

उदयपुर। मुख्यधारा के साहित्य में ऐसी कृति नहीं है और अपने इसी विशिष्ट ढंग के कारण यह सर्वथा नया उपन्यास है। रहस्य रोमांच की कथा का आधार लेकर लिखे गए विभूति नारायण राय के सद्यःप्रकाशित उपन्यास 'प्रेम की भूतकथा' पर आयोजित एक गोष्ठी में प्रो. नवल किशोर ने कहा कि प्रेम कथा के आकर्षण के अतिरिक्त उपन्यास में फ्रेंच क्रान्ति का संकेत साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद के सार्थक विरोध की भूमिका बनाता है।

इससे पहले शोधार्थी गजेन्द्र मीणा ने उपन्यास के कतिपय प्रमुख अंशों का पाठ किया।

प्रतिध्वनि

पत्रा-प्रतिक्रिया

‘पुस्तक-वार्ता’ के अंक 26 में मेरा ‘आलोचना’ के नामवर सिंह शोध-निबन्ध प्रकाशित करने के लिए धन्यवाद देना चाहता हूँ। मेरे जैसे अनजान-अनाड़ी-नासमझ-दरकिनार लेखक के लेख को तुमने आत्मीयता के साथ बिना ‘प्रूफ रीडिंग’ करवाए ही छाप दिया—यह तुम्हारे साहस और शौर्य की ही महत्ता है। बहरहाल, मैं धन्य हूँ। चूँकि यह लेख एक ऐतिहासिक महत्त्व की पत्रिका की पड़ताल करता है, इसलिए शुद्धिकरण का एक स्पष्टीकरण दे रहा हूँ।

(1) आलोचना का पाँचवा अंक, जो ‘इतिहास अंक’ था और नामवर जी जिसके सह-सम्पादक थे, वह अक्टूबर-दिसम्बर, 1952 का अंक था, 1951 का नहीं। (2) पृष्ठ-52 पर-बर्टोल्त ब्रेष्ट की कविता की सही पंक्ति है—‘यह कैसा जमाना है/कि पेड़ों के बारे में बातचीत भी लगभग जुर्म है’ (3) पृष्ठ-54 पर-1986 ई. में प्रकाशित रामविलास शर्मा की पुस्तक का अधूरा नाम छपा है। पूरा नाम है—‘मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य’। (4) पृष्ठ वही—फिराक की रूबाई में—‘दोष’ शब्द नहीं होकर ‘दोश’ होना चाहिए। ‘दोश’ फारसी का शब्द है, जिसका अर्थ है—कन्धा। (5) पृष्ठ-55 पर शुद्ध वाक्य इस प्रकार है—‘त्रिलोचन ने शुरु से ही इस पश्चिमी आधुनिकता को पीठ देकर अपनी काव्य-यात्रा की।’

मेरा मानना है कि ‘पुस्तक-वार्ता’ के पाठक समझदार और विद्वान् हैं शेष अशुद्धियों को वे शुद्ध कर इस निबन्ध को पढ़ लेंगे।

□भारत यायावर, हजारीबाग

‘पुस्तक-वार्ता’ का अंक जब तक नहीं देखा, मेरी धारणा थी कि वह अखबारों के साप्ताहिक आयोजन जैसी कोई पत्रिका होगी। किन्तु अंक 26 देखकर धारणा कुछ और ही बनी।

कवर से कवर तक पत्रिका सुरुचिपूर्ण है। रचना-आलोचना का अद्भुत सुयोग है, एक बार पढ़ना शुरू किया तो अंक समाप्त करके ही विराम दिया। एक मायने में यह दस्तावेजी अंक है, स्वयं प्रकाश की स्वीकारोक्तियाँ, हमीदा सालिम की यादें, फिर निर्मला जैन द्वारा दिखाई गई दिल्ली, टी हाउस की बोली—वाणी, विजेन्द्र की अन्तर्यात्रा पर टिप्पणियाँ पढ़ते-पढ़ते लगता ही नहीं आप इनसे अलग हैं। आप स्वयं को एक सहयात्री के रूप में पाते हैं। समीक्षक का यह गुण उन्हें दैनिक अखबारों में छपने वाली समीक्षाओं से अलग करता है। आलोचना के नामवर सिंह के माध्यम से वह कालखण्ड हमारे सामने जीवन्त हो उठता है, यादों को तरोंताजा करता है। कुल मिलाकर पत्रिका अद्यतन प्रकाशनों की सूचना भर नहीं देती एक रचनात्मक मुठभेड़ भी करती है।

केवल गोस्वामी, नई दिल्ली

‘पुस्तक-वार्ता’ का अंक-24 (सितम्बर-अक्टूबर 2009) खरीदा देखा-पढ़ा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर आपकी सम्पादकीय सराहनीय है। आपने ठीक कहा है कि आ. शुक्ल हिंदी आलोचना के हिमालय थे।

अंक में हिंदी की विविध विधाओं की पुस्तकों की समीक्षा पढ़ कर उन्हें खरीदने की इच्छा होती है किन्तु एक निम्न मध्यवर्गीय पाठक के लिए यह सब नामुमकिन है।

सार्थ, कानपुर नगर (उ.प्र.)

‘पुस्तक-वार्ता’ का अंक 26 मिला। अब पत्रिका उन कई पत्रिकाओं में से है जो पूरी पढ़ी जाती हैं—यानी उसमें छोड़ने लायक कुछ नहीं होता। आप सजग और जागरूक सम्पादक हैं यानी अपने विषय की भरपूर जानकारी आपको है। फिर पता नहीं क्यों और कैसे भारत यायावर

के लेख ‘आलोचना के नामवर सिंह’ में तथ्यात्मक भूलों को आपने जाने दिया। मैं उनके विश्लेषण की पद्धति और पत्रिका के नेपथ्य की दुरभि सन्धियों की बात न करके सिर्फ तथ्यों की बात कर रहा हूँ। **नन्ददुलारे वाजपेयी के सम्पादन में आलोचना अंक 18 से 26 तक आए 28 तक नहीं।** 25 और 26 अंक ‘काव्यालोचन’ अंक थे। अंक 25 में ही पण्डित भोलानाथ शर्मा ने मूल जर्मन स्रोतों को आधार बनाकर गेटे पर एक लम्बा लेख लिखा था। बरसों ‘पश्यन्ती’ में पड़ा रहकर मेरा लेख ‘शिवदान सिंह चौहान की आलोचना के दो दौर’ पिछले वर्ष अक्षर-पर्व में छपा था। आपने कहीं उस का उल्लेख भी किया था। शिवदान सिंह चौहान ने दूसरे दौर में केवल 5 अंक—स्वातन्त्रयोत्तर हिंदी साहित्य विशेषांक ही नहीं निकाले। इसी दौर में उनके सम्पादन में 11 अंक आए—27 से 37 तक न कि 29 से 33 तक। जैसा कि भारत यायावर ने लिखा है। तथ्यों को सही करने के लिए ही यह सूचना देना मुझे जरूरी लगा है।

मधुरेश, बरेली

‘पुस्तक-वार्ता’ के हर अंक से मैं कुछ और समृद्ध होता हूँ। एक ही स्थान पर ढेर सारी चखचत पुस्तकों से रू-ब-रू होना वाकई मेरे लिए आधुनिक अनुभव है, वह इसलिए कि पुस्तक—तक मेरे रसाई कम हो पाती है। साथ ही मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि आजकल कुछ पत्रिकाएँ पाँच तारा होटल सदृश हो गई हैं, जिनमें गरीब-गुरबा का दाखिला भी पुस्तक-वार्ता में महसूस ही होगा, ऐसा मान लेने में कोई हर्ज नहीं है, क्योंकि 20-25 पत्रा-पत्रिकाओं ने नोटिस नहीं लिया, तो पुस्तक-वार्ता तो बहुत ऊँची चीज है, भले सम्पादक मेरे हितैषी हों यह तो अपने-अपने

नसीब की बात है। कुछ लोग कुछ नहीं लिखकर भी बहुत कुछ चर्चा में रहते हैं और कुछ निरन्तर लिखते हुए भी नेपथ्य में रहते हैं। 'आलोचना' के नामवरसिंह में नामवर जी के चित्रा देखकर पीड़ा हुई। ऐसे धुरन्धर व्यक्ति के ऐसे चित्रा जाने दें, शायद मेरी आँखों का दोष है या फोटोग्राफर की त्रुटि। खैर!

हसन जमाल, जोधपुर

'पुस्तक-वार्ता' का नवम्बर-दिसम्बर अंक मिला। सहज ही प्रसन्नता हुई। अंक में संकलित समीक्षाएँ हमेशा की तरह प्रेरक एवं विचारार्थ हैं। 'मैं और पुस्तकें' के अन्तर्गत विद्वत शिवकुमार जी का संस्मरणात्मक आलेख अनेक बिन्दुओं पर मन को प्रभावित कर गया। आपने अपने सम्पादकीय के अन्तर्गत बहुत महत्त्वपूर्ण मुद्दा उठाया है। संस्कृति मन्त्रालय के साथ निजी क्षेत्रा में सक्रिय सार्वजनिक संगठनों को भी इस ओर ध्यान देना उपयोगी होगा।

डॉ. त्रिभुवन राय, मुम्बई

हिंदी लेखकों के राष्ट्रीय स्मारक, वसीयतनामा और निजी पुस्तकालय शीर्षक से लिखे आपके सम्पादकीय (पुस्तक-वार्ता-25) के बारे में मेरा

मत है कि लेखकों के 'राष्ट्रीय स्मारक', 'वसीयतनामा' और उनके 'निजी पुस्तकालय' ये तीनों ही अलग-अलग सम्पादकीय के लिए स्वतन्त्रा विषय हैं। आपने तीनों विषयों को एक ही सम्पादकीय में समेट लिया।

दरअसल इन तीनों विषयों पर अलग-अलग सम्पादकीय लिखने से पहले कुछ लेखकों के 'स्मारक', 'वसीयतनामा' तथा 'निजी पुस्तकालय' की भी खंगाल-पड़ताल अच्छी-खासी हो जानी बहुत जरूरी है। तभी माकूल सम्पादकीय का लिखना सम्भव है और औचित्यपूर्ण भी। स्वयं में संस्था जैसे अनेक लेखक इस देश में रहे तथा हैं भी हमारे बीच। उनके यश व्यक्तित्व के अनुरूप 'राष्ट्रीय स्मारक' बनने की बात हो तो जाहिर है कि ऐसे लेखक 'राष्ट्रीय-व्यक्तित्व' तथा देश व्यापी ख्याति रखते हों, इस सम्बन्ध में कुछ सुनिश्चित और महत्त्वपूर्ण आधार भी तय हों। यह सही है कि जनता और समाज की भी इसके प्रति गम्भीरता होनी चाहिए। पर सरकार की भी इसके प्रति जिम्मेदारी जरूरी है। विशेष रूप से आज के दौर में जबकि शिक्षा संस्कृति साहित्य कला के साथ ही लोक-कल्याण के प्रति अब दाय सरकारें और उनके अगले अमले समेत

जनप्रतिनिधि भी ज्यादा-से-ज्यादा अगंभीर होते जा रहे हैं। उत्तर प्रदेश में वर्तमान मुख्यमन्त्री मायावती हैं जिनको वस्तुतः उन महापुरुषों से कुछ भी लेना-देना नहीं है जिनके स्मारक और मूर्तियों को बनवाने लगवाने और तोड़-फोड़ एवं रद्दोबदल अभियान द्वारा इन सबके कार्यकलाप के अनवरत कामों से जनधन (बजट के रूप में प्राप्त जनता की गाढ़ी कमाई से कर के रूप में संचित राशि) को अपने तथा अपनों के खाते में पहुँचाना है।

प्रभाकर वसिष्ठ, लखनऊ

आपने मेरा लेख 'पोथी का सुख' 'जनसत्ता' से लेकर पुस्तक-वार्ता नवम्बर-दिसम्बर 09 में पुनः प्रकाशन योग्य समझा। यह देखकर मुझे बहुत खुशी हुई।

शिवरत्न थानवी, जोधपुर (राजस्थान)

'पुस्तक-वार्ता' समीक्षा-आलोचना की पत्रिका होने के बावजूद बड़ी जीवंत, पठनीय और तपिशभरा माहौल पैदा करती है। यह पत्रिका अदब शनास लोगों के लिए जरूरी पत्रिका बन चुकी है।

ज्ञानप्रकाश विवेक, बहादुरगढ़ (हरियाणा)

लेखकों से आग्रह

पुस्तकवार्ता में प्रकाशनार्थ रचना / समीक्षा / आलेख कृपया डबल स्पेस हाशिया छोड़कर साफ लिखा / टाइप किया (कंप्यूटर टाइप) हुआ भेजें ताकि संपादन में सहूलियत हो।

□ संपादक

